सामयिक वार्ता

जून 2018 ❐ मूल्य : 20 रुपए

राजकिशोर स्मृति

राजकिशोर की कविताएँ

आत्मकथा
मुझे मरना था
किसी बड़े उद्देश्य के लिए
मैं मर-मिटा
एक यूं ही-सी चीज पर

मुझे जीना था
मुकम्मल बदलाव के लिए
मैंने अपने को जीते हुए पाया
औसत सुविधाओं
और चालू सुखों की खातिर

मुझे पढ़ना था
ताकि मैं कुछ अच्छा लिख सकूं
मैंने इसलिए पढ़ा कि
विद्वान-सा दिखूं

मुझे लिखना था
ताकि दुनिया को बता सकूं
उसके बारे में
मैंने रात-रात भर जाग कर
कागज काले किए
लिखते हुए
अपने ही बारे में

यही है मेरी छोटी-सी
आत्मकथा

जो लोग मेरी अरथी उठाएंगे
वे मेरे बारे में
एक-दूसरे को क्या बताएंगे?

डर
अधूरेपन से डरता हूं
इसलिए
कुछ नहीं करता हूं

जनमत की इतनी परवाह है
कि
सच कहने की
थोड़ी भी न चाह है

संबंधों में दरार न पड़े
यह सोच कर
अन्याय सह लेता हूं बड़े-बड़े

भविष्य के बारे में सोच कर
घबराता हूं
इसलिए वर्तमान को
स्वाहा करता जाता हूं।

विलोम

दुनिया की बनावट
बदलने के लिए
मैंने क्या नहीं किया
बस अपनी बनावट पर
ध्यान नहीं दे सका

जगाता रहा दूसरों की अंतरात्मा को
मेरी अंतरात्मा
दिन में भी झपकी लेती रही

खोजता रहा हमेशा
कि कौन मेरे साथ है
अपने आपसे कभी नहीं पूछा
मैं किसके साथ हूं

सारे सिद्धांत थे मेरे लिए
मैं किसी सिद्धांत के लिए नहीं था।

श्रेष्ठता
श्रेष्ठता को मैंने देखा है
इतिहास में नहीं
वर्तमान में

श्रेष्ठता को मैंने पाया है
कहीं दूर देश में नहीं
अपने ही आस-पास

दोस्तो में
संबंधियों में
जिनके साथ काम किया है
उनमें
और उनमें भी
जिनके साथ काम करने का
मौका नहीं मिला

ऐसे में
कैसे यकीन करूं
उनकी बात पर
जो यह दावा करते हैंः
छोड़िए भी
होते हैं सभी एक जैसे
सभी मतलबी हैं
सभी को चाहिए पैसे

जिंदगी अगर सचमुच
इतनी गरीब होती
तो वह प्रहसन के और ज्यादा
करीब होती।

साहस
सभ्यता के सारे तीर
छाती पर सहता हूं

शहर के बीचोबीच
आदिवासी-सा रहता हूं।

बांधो न नाव
(संदर्भः निराला का इसी शीर्षक का गीत)
बांधो न नाव इस ठांव बंधु
थूकेगा सारा गांव बंधु

यह वही घाट जिस पर नेता
तिकड़म की नौकाएं खेता
जिससे जो मिल जाए लेता
देता है सबको दांव बंधु

तुम भी हो जाओगे ऐसे
पापों की हो गठरी जैसे
हाथों में पैसे ही पैसे
कीचड़ में दोनों पाँव बंधु

बांधो न नाव इस ठांव बंधु
थूकेगा सारा गांव बंधु।

जून 2018, वर्ष 41 अंक 7-8

खाता नाम - सामयिक वार्ता
या Samayik Varta
बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda)
शाखा - सोनारपुरा, वाराणसी
Sonarpura, Varanasi (U.P.)
खाता संख्या **40170100005458**
IFSC Code : BARB0SONARP
(यहाँ दूसरे B के बाद जीरो है, ओ नहीं
S के बाद O (ओ) है।)
MICR CODE : 221012030
इस खाते में पैसा जमा करने तथा ग्राहक के पते की सूचना
ई-मेल अथवा मोबाइल-08765811730/ 08004085923

कार्यालय
डी. 28/160, पाण्डे हवेली, वाराणसी-221001
फोन : 08004085923 (संपादन),
08765811730 (प्रबंध)
e-mail- varta3@gmail.com

इस अंक में

सदस्यता शुल्क : एक प्रति : 20/-, वार्षिक शुल्क : 150/-, संस्थागत वार्षिक शुल्क : 200/-
पाँच वर्षीय शुल्क : 600/-, आजीवन शुल्क : 2000/-

संपादकीय

सलाम ! साथी राजकिशोर!

'दिनमान' और 'रविवार' में एक अपनापन था।यह मुख्यधारा की पत्रिकाएं थीं फिर भी इनमें समाजवादी विचारों, रिपोर्ताजों को भी जगह मिलती थी। रघुवीर सहाय, सुरेंद्र प्रताप सिंह और राजकिशोर का इन पत्रिकाओं के संपादन से जुड़ा होना इस अपनेपन की वजह थी। 'जन', 'मेनस्ट्रीम' और इनके बाद 'चौरंगी वार्ता', 'सामयिक वार्ता' के संपादन से जुड़े ओमप्रकाश दीपक,अशोक सेकसरिया, किशन पटनायक और सच्चिदानंद सिन्हा के वैचारिक लेखों को छापने से 'रविवार' और 'दिनमान' को एक विशिष्ट पहचान मिली थी और पाठक वर्ग तैयार हुआ था।

मुख्यधारा की पत्रकारिता से जुड़ी कई बड़ी शक्सियतें राज्य सभा, उच्चायुक्त जैसे ओहदों को पाकर संतुष्ट और शांत हो जाती हैं। राजकिशोर का तेवर और सपना भ्रष्ट राजनीति की मुख्यधारा में शरीक हो जाने वाला नहीं था। वे लोहिया विचार मंच तथा 'चौरंगी वार्ता' से जुड़े रहे तथा 1980 में समता संगठन के स्थापना सम्मेलन में भी शरीक हुए थे। 2007 में उन्होंने एक 'राष्ट्रीय कार्यक्रम' का मसविदा बनाया और उसके बूते राजनीति खड़ी करने का ख्वाब देखा।उन्हें इसका उत्साहजनक प्रतिसाद नहीं मिला । वे भागने वालों में से नहीं थे। 2008 में मेरे एक लेख पर अपनी राय व्यक्त करते हुए उन्होंने एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने लिखा था, 'इसी जमीन का पैदा अन्न खाते हैं इसलिए अपनी इंसानियत, बौद्धिकता और सामाजिकता से भाग नहीं सकते। हम अपनी जिम्मेदारियों से भागते हैं।' इसी पत्र में उन्होंने लिखा, 'जो अनिश्चय हैं सार्वजनिक काम में उतरने के, वे कम हुए। फिर भी इस नदी में कूदते हुए बहुत डर लग रहा है। सब कुछ तैयार है, बस निर्णय का वह क्षण नहीं आ रहा जब भविष्य एकदम साफ नजर आता है।'

समाजवादी जन परिषद द्वारा शिक्षाधिकार पर जंतर मंतर पर 2015 में आयोजित कार्यक्रम में वे समाजवादी जन परिषद के बाजाफ्ता सदस्य बन गये।उसके बाद इकाई की सक्रियता कैसे बढ़े इस पर लिखते रहे।पत्रकारीय लेखन में अकेले दम पर वे जितना सक्रिय थे उसी दर्जे की सक्रियता की उम्मीद वे दल से भी करने लगे।

इंटरनेट के आने के पहले के वरिष्ठ पत्रकार नई तकनीक को स्वीकार कर लें यह कोई जरूरी नहीं था लेकिन राजकिशोर ने किसी मानसिक बाधा के बिना इसे अंगीकार कर लिया। अपने लेख ईमेल से भेजना, लेख खोजना, नेट पर हिंदी वाङ्मय (वर्धा के हिंदी विश्वविद्यालय में 'हिंदी समय' के जरिए) को समृद्ध करने के अलावा नेट पर सुगम संगीत तलाशना,सुनना और पॉडकास्ट (नेट पर ध्वनि प्रसारण) को बहुत गंभीरता से लेना उनकी आदत थीं। मानसिक बाधा के कारण हमारे एक साथी बरसों से मोबाइल रखने के बावजूद संदेश नहीं देखते है तथा एक अन्य साथी साधन उपलब्ध होने के बावजूद ईमेल नहीं खोलना चाहते हैं। जुलाई 97 में 'काशी विश्वविद्यालय में मानवाधिकार' विषयक लेख मैंने 'दूसरा शनिवार' के लिए हाथ से लिख कर भेजा था। उसके बाद से राजकिशोर जी से मैत्री और प्रशिक्षण 'मेलामेली' (ईमेल से आदान-प्रदान) के जरिए ही होता था। राजकिशोर का ई-पते का हिंदी तर्जुमा 'सत्यमेव' (truth only) होता । उनके लिए यह एक बुनियादी मूल्य था।

राजकिशोर से पहली मुलाकात बनारस में 59वें संविधान संशोधन (1988) के विरुद्ध आयोजित एक जुलूस में हुई थी। पंजाब में राष्ट्रपति शासन तीन साल तक बढ़ाए जाने तथा पंजाब के कुछ जिलों में आपातकाल के प्रावधान लागू करने के लिए यह संविधान संशोधन लाया गया था। इसके बाद से देश की सामाजिक स्थिति में जब भी बड़ी हलचल हुई- मंडल सिफारिशें लागू करना, बाबरी मस्जिद को गिराया जाना तथा उदारीकरण द्वारा लाई गई प्रतिक्रांति की शुरुआत, इन सभी मौकों पर राजकिशोर ने बेबाक तरीके से अपनी लेखनी चलाई जिसने हमेशा जन-आंदोलनों से निकली राजनीति और समाजवाद को बल मिला।

सामयिक वार्ता का यह अंक मुख्यतः राजकिशोर की स्मृति में है। सामयिक वार्ता की टीम अपने साथी राजकिशोर की स्मृति को सलाम करती है।

–अफलातून

अपना लेखन जिया भी राजकिशोर ने

अरविन्द मोहन

राजकिशोर जी के जाने की चर्चा भले बडे अखबारों और टीवी में न हो पर सोशल मीडिया और समाज के पढ़े-लिखे हिस्से में जैसी और जितनी हो रही है वह बताती है कि उस अकेले आदमी का लम्बा संघर्ष काफी हद तक कारगर रहा। वे बहुत साफ ढंग से गान्धी और उससे भी बढ़कर लोहिया के विचारों के पक्षधर थे और उसे ही सामने रखकर अपना लेखन करते थे। लेखन भी क्या खूब। मूड हो तो कई-कई लेख दिन में। और अखबार बडा है या छोटा इसकी परवाह नहीं-पैसों की हल्की चिंता जरूर रहती थी क्योंकि वे न तो कोई और काम करते थे न ऐसी कोई पैतृक सम्पत्ति थी। उन्हें कैरियरिज्म से वैसे ही नफरत थी जैसे भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता और घटिया राजनीति से। बल्कि हमारे जैसे करीबी लोग उनकी सामाजिक और पारिवारिक पृष्ठभूमि के बारे में ज्यादा जान पाए क्योंकि उनको व्यक्तिगत बातें करने में रुचि ही नहीं लगती थी। और खबरों या खबर वालों में ऐसा दिल लगा रहता था कि एक बार नहीं कई बार अस्पताल बेड से भी वही चर्चा चाहते थे। खूब पढना, खूब लिखना, खूब चर्चा करना, यही वे चाहते थे, यही करते रहे-कैरियर, स्वास्थ्य और उम्र की अवस्था जो भी रही.

राजकिशोर जी के लेखन से परिचय रविवार निकलने से ही हो गया था और पढाई तथा समता संगठन की राजनीति वाले दौर में 'आस्था कुटीर' में पंकज जी और विजय प्रताप के साथ रहते हुए यह चर्चा अक्सर होती थी कि गणेश मंत्री, बनवारी और राजकिशोर हमारी पत्रकारिता के तीन सबसे दमदार नए नाम हैं और अंगरेजी पत्रकारिता में भी ऐसा लिखने वाला नहीं दिखता। संयोग से जब खुद पत्रकारिता शुरु की तब बनवारी भाई, पंकज जी और विजय प्रताप जैसे लोग तो सहारा ही थे, राजकिशोर और मंत्री जी का लेखन प्रेरणा देता रहा। राजकिशोर से पहली मुलाकात काफी बाद में हुई जब वे 'परिवर्तन' निकालने के क्रम में दिल्ली आए थे और हमारे साथ, यानि सच्चिदाननद सिन्हा और मेरे रहने वाले फ्लैट में आए। सच्चिदा बाबू से नियमित लिखने के आग्रह के साथ ही उन्होंने मुझे भी लिखने को कहा। मैं तब जनसत्ता में काम करता था। इसलिये दिल्ली से रिपोर्टिंग का उनका आग्रह मानना कठिन था। हाँ मैंने छद्मनाम से राजनैतिक गासिप का कालम लिखने की पेशकश की जिसे उन्होंने मान लिया। बाद में खुद इसकी तारीफ की, रमेशचन्द्र शाह जैसे लोगों की तारीफ वाला पत्र छापा पर काफी सारे लोगों को बता भी दिया कि यह कालम कौन लिखता है। राजनैतिक गासिप में नाम प्रचारित होने से ऐसे किस्से मिलने में दिक्कत होती है, लोग सामने चर्चा करने से बचते हैं और फिर अपने दफ्तर में परेशानी हुई ही।

सो राजकिशोर जी के व्यक्तित्व के इस नए रूप से परिचय हुआ जो बहुत प्रिय न था। पर अन्दर की बेचैनी और अकेले सबकुछ करने की हडबडी में बार-बार इस तरह की बात करने का अनुभव उनके साथ हुआ। अशोक जी की किताब जब उनके जाने बगैर निकालने का काम हो रहा था तब भी सम्भवतः राजकिशोर जी ने उन्हें सूचित कर दिया था। बातचीत या किसी विषय की चर्चा में भी दन से कोई अंतिम निष्कर्ष निकालने की उनकी हड़बड़ी मुझे पसन्द नहीं आती थी। जब वे नव भारत टाइम्स के लिये दिल्ली आ गए तब से नियमित मिलना और चर्चा सामान्य हो गयी, पर मुझे बहुत मजा नहीं आता था। इस चर्चा से राजकिशोर की मन में बनी छवि कमजोर होती थी। बहुत गम्भीर बात करते-करते अचानक कोई एकदम हल्की बात या गालीनुमा जुमला बोलने से हमें सदमा सा होता था। यह उनसे करीबी बात करने वाले ही नहीं कैजुअल बात करने वाले भी मानते थे। संयोग से साथ रहने वाला अवसर नहीं बना। जब वे आनन्द विहार आए तो उस मुहल्ले का पहला पत्रकार बाशिन्दा और कई लोगों को वहाँ बसाने वाला मैं खुद दूसरी जगह चला गया था। पर घर आना-जाना और पचासों कामों में सहयोग चलता रहा।

पर यह लगने लगा कि राजकिशोर इतना ही नहीं हैं। उनकी बेचैनी और जल्दी से कुछ बडे नतीजे पाने की हड़बड़ी तथा इस काम में अपनी या एक व्यक्ति की सीमाओं को जानकर शायद वे यह सब बोलते-करते थे। जिस छननी या विचारधारा का प्रयोग वे अपने चिंतन और लेखन का आधार बनाने के लिये करते थे, उसे काफी हद तक जीवन में उतारने और अपने आसपास के लोगों से उन पर अमल कराना भी चाहते थे। कई साथियों, पत्रकारों और राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के बारे में उनकी जल्दबाजी की निर्णायक टिप्पणी भी एकदम सटीक हुई तो कई बार इसके चलते लोग उनसे दूर छिटके। और मेरे जैसे कई करीबी मित्रों की राय थी कि इसी सीमा के चलते राजकिशोर अच्छा नेता नहीं बन सके-अच्छा नेता माने बड़े सम्पादक। उनकी टिप्पणियों से छोटा-बड़ा कोई नहीं बचता था, सो उनका लाख आदर करके भी उनकी टीम में

आना या उनको अपनी टीम में रखना पसन्द नहीं किया गया.

करीब चालीस साल के अपने रिश्ते के दौरान उनका किसी ताकतवर के आगे झुकना और किसी कमजोर को सताना मैंने नहीं देखा-सुना। वे किसी से लड़े हों या बदतमीजी की हो यह नहीं देखा-सुना पर वे डर से अपनी बात न कह पाएँ हो यह भी नहीं देखा-सुना। फेसबुक और सोशल मीडिया पर अनेक नए लोगों की टिप्पणियाँ आ रही हैं कि वे किस तरह हर किसी से हर मुद्दे पर चर्चा करते थे। मैं ऐसे लोगों को भाग्यशाली मानता हूँ क्योंकि राजकिशोर जिसे अपना समझते थे उससे काफी सारी चीजों की अपेक्षा करते थे और उसके लिये टोका-टोकी से परहेज नहीं करते थे। वे मित्रों और 'दुश्मनों' की गलतियों पर समान रूप से टीका-टिप्पणी करते थे। वे लिखे बगैर रह नहीं सकते थे तो बोले बगैर भी नहीं रहते थे। और जाहिर है इसमें सबसे ज्यादा विमला भाभी और परिवार के लोगों को सहना पड़ता होगा। पुत्र विवेक राज से उनकी चर्चाओं की खबर हम मित्र भी साझा करते थे। और अभी पिछले दिनों जब विवेक की मौत हुई तो राजकिशोर जी ने उसकी अर्थी उठाते हुए किसी को 'राम नाम सत्त है' नहीं कहने दिया। अपनी मौत का गम भी न करने और मृत्यु भोज न देने के निर्देश के साथ ही उन्होंने विमला भाभी को यह भी कह रखा था कि मौत के बाद जब मित्र आएँ तो खिला-पिलाकर विदा करना। और प्रेस क्लब की शोक-सभा के बाद हम सभी को उनकी भावना का मान रखना पडा.

अब पुत्र की मौत पर या अपने कैरियर की दुर्गति पर पत्रकारिता तथा समाज में अपनी स्थिति और अपनी विचारधारा की दुर्गति पर उनको मलाल न होगा, ऐसा नहीं था। इधर काफी समय से वे अवसाद से यूँ ही पीडित न थे। वे अवसाद का इलाज कराते थे, दवा खाते थे पर इसकी चर्चा भी वे कभी नहीं करना चाहते थे। हाँ, मित्रों के बीच अपनी बेटी की शादी में हो रही देरी की चर्चा वे करते थे। और यह चीज वे नहीं देख पाए। वे कई आस और सपने लिये चले गए हैं। पर अपने साथ के लम्बे जीवन से उन्होंने भाभी और गुडिया को इतना स्वावलम्बी जरूर बना दिया होगा कि वे अपना जीवन उनके मूल्यों के हिसाब से चला लें। हमारे जैसे काफी सारे लोग उनके और लम्बे सहजीवन की आस टूटने से आहत हैं।

राजकिशोरः सबसे योग्य और नैतिक आवाज

गोपेश्वर सिंह

मूल्य और विचार आधारित पत्रकारिता की जो परंपरा रही, उसके संभवतः अंतिम और बड़े नाम राजकिशोर थे। उनकी उपस्थिति मूल्य आधारित पत्रकारिता की याद दिलाती थी। उन्होंने मूल्यों और विचारों से कभी समझौता नहीं किया। हमारे समय में राजेन्द्र माथुर, प्रभाष जोशी और राजकिशोर हिंदी पत्रकारिता की ऐसी त्रयी थे जिनके होने मात्र से मूल्यों और विचारों के बचे रहने का भरोसा जगता था। तीनों की अलग-अलग शैलियाँ और अंदाज थे। लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं कि इनके लिखे में हिंदी पत्रकारिता की सबसे नैतिक और योग्य आवाज सुनाई देती थी। माथुर साहब और प्रभाष जोशी तो प्रतिष्ठित राष्ट्रीय दैनिकों के संपादक हुए और उन्हें वह सबकुछ मिला जो उन जैसे बड़े पत्रकारों को मिलना चाहिए। लेकिन इस मामले में राजकिशोर बड़भागी न रहे। वे किसी बड़े दैनिक के संपादक न बन सके। दैनिक पत्रों के वे संपादक मंडल में ही रहे। कुछ मासिक पत्रिकाओं का संपादन उन्होंने जरूर किया। वे जिस भी पत्र में होते, संपादक या उप-संपादक के रूप में, उनके होने मात्र से उसमें एक नयी चमक आ जाती थी।

कलकत्ता में जन्मे (2 मार्च 1947), पले, बढ़े और शिक्षित हुए। राजकिशोर 1990 में राजेन्द्र माथुर के बुलावे पर दिल्ली आए और 'नवभारत टाइम्स' में सहायक संपादक के रूप में काम शुरू किया। उसके पहले कलकत्ता के 'रविवार' साप्ताहिक और 'परिवर्तन' का वे संपादन कर चुके थे। इन पत्रों के जरिए वे दृष्टिसंपन्न और विचारशील पत्रकार के रूप में ख्याति अर्जित कर चुके थे। लेकिन दिल्ली आए तो दिल्ली के होकर ही रहे। कलकत्ता के लिए कभी हाय-हाय नहीं किया, जैसा कि हम आमतौर पर अपनी छूटी हुई जगहों के लिए किया करते हैं। दिल्ली में अलग तरह का संघर्ष और चुनौतियाँ थीं, लेकिन यहाँ काम करने का अवसर भी था। 'नव भारत टाइम्स' से विद्यानिवास मिश्र के कार्यकाल में हटा दिए जाने के बाद उन्होंने संघर्ष भी खूब किया और लिखा भी खूब। 'आज के प्रश्न' श्रृंखला में लगभग दो दर्जन पुस्तकों का

संपादन किया। साथ ही 'सुनंदा की डायरी' (उपन्यास), 'एक अहिंदू का घोषणा-पत्र', 'एक भारतीय के दुःख', गाँधी मेरे भीतर', 'स्त्रीत्व का दुःख' आदि महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की रचना की। अभी बड़ी संख्या में उनका लेखन बिखरा हुआ है। इसे संकलित और प्रकाशित करने से हिंदी की वैचारिक दुनिया समृद्ध होगी।

राजकिशोर के वैचारिक मानस के निर्माण में भारत के समाजवादी आंदोलन, विशेषकर राममनोहर लोहिया के विचारों का गहरा प्रभाव था। लोहिया की मौलिकता और गद्य का जो खुरदुरापन था, उससे राजकिशोर का लेखकीय व्यक्तित्व बना था। वे दूसरे लोहियावादियों की तरह मार्क्स के विरोधी नहीं थे। वे मार्क्स से जरूरत पड़ने पर वैचारिक ऊर्जा लेते थे। लेकिन भारत के कठमुल्लावादी कम्युनिस्टों को उन्होंने कभी पसंद नहीं किया। इधर के वर्षों में डॉ. अम्बेडकर के विचारों से वे प्रभावित हुए थे और भारतीय समाज में दलित समस्या के समाधान की दिशा में बोलने और लिखने लगे थे। लेकिन वहाँ भी वे किसी वैचारिक जड़ता को पसंद नहीं करते थे। 'आज के प्रश्न' श्रृंखला में 'दलित राजनीति की समस्याएं' नामक पुस्तक के जरिए उन्होंने दलित राजनीति को भी आलोचनात्मक ढंग से देखा। उन्होंने अपने संपादाकीय में लिखा कि- 'दलित राजनीति को अक्सर दलित आन्दोलन का पर्याय मान लिया जाता है। इसमें क्या शक है कि दलित आन्दोलन न होता, तो दलित राजनीति कहाँ से आती। लेकिन इसमें शक है कि दलित राजनीति दलित आन्दोलन को आगे बढ़ा रही है। महाराष्ट्र में डॉ. अम्बेडकर की जुझारू राजनीतिक परंपरा तो ख़त्म-सी हो ही चली है, उत्तर भारत में बहुजन समाजवादी पार्टी पूरी तरह से नैतिक और वैचारिक क्षय की शिकार है। आत्म-सम्मान के लिए संघर्षरत दलित मध्यवर्ग के आन्दोलन से निकली बसपा की आकांक्षा यह थी कि पिछड़ों और अल्पसंख्यकों को अपने भीतर समेटते हुए वह भारत के वंचित शोषित बहुजन का प्रतिनिधित्व करेगी। लेकिन आज न वह केवल दलितों की पार्टी बन गई है, बल्कि दलित राजनीति को किसी ऊँचाई पर ले जाने में असमर्थ दिखाई देती है'। राजकिशोर जी यह मानते थे कि दलित ही अपनी समस्याओं को ठीक से समझ सकते हैं, वे दलित राजनीति का भी अच्छा विश्लेषण कर सकते हैं । लेकिन इसी के साथ वे यह भी मानते थे कि दलितों के संघर्ष में गैर-दलितों को भी सहकार करना चाहिए। उनका विश्वास था कि अन्य लोगों द्वारा की गई समीक्षा के प्रकाश में दलित समुदाय अपनी राजनीति का वस्तुपरक विश्लेषण कर सकता है। इसीलिए उन्होंने अपनी किताब में दलित विचारकों के साथ गैर-दलितों को भी शामिल किया।

राजकिशोर जी धुंआधार लिखने वाले विचारक पत्रकार थे। 'नवभारत टाइम्स' से हटने के बाद उनके लेखन में और गति आई। वे हम जैसे मित्रों से भी निरंतर लिखने की अपेक्षा करते थे। वे जिस पत्रिका से जुड़े होते थे, उसमें लिखने के लिए हमसे भी आग्रह करते थे। उनके पास विषय और शीर्षक के नएपन की भरमार थी। वे कोई फड़कता हुआ रचनात्मक शीर्षक सुझाते और लिखने का आग्रह करते। उनके आग्रह पर कभी-कभी लिखा भी मैंने। लेकिन कभी-कभी असमर्थता भी व्यक्त की कि लिखने के लिए सन्दर्भ पुस्तकों को देखना भी जरूरी है और उसके लिए अभी मेरे पास समय नहीं है तो वे हमें झकझोरते कि लिखना तो आनंद का काम है, टिप्पणियाँ स्मृतियों के सहारे लिखनी चाहिए, रेफरेंस की जरुरत अकादमिक लेखन में होनी चाहिए। लिखना उनके लिए आनंद का काम इसलिए था कि वे लिखने को सामाजिक और बौद्धिक एक्टिविजम समझते थे।

राजकिशोर का लेखन साहित्यिक संवेदना और अस्मितामूलक विमर्शों की चेतना से लैश था। वे गरीबी, जाति, स्त्री, रंग आदि के प्रश्न की अनदेखी करके लिखने वाले लेखक नहीं थे। उनके लिखे में साहित्यिक सन्दर्भ भी बार-बार आते हैं जिसके कारण उनके लेखों का प्रभाव कई गुणा बढ़ जाता था। वे हिंदी के बहुपठित पत्रकार-लेखक थे। हिंदी समेत दुनिया के अनेक लेखकों-विचारकों के सन्दर्भ उनके लेख में आते जो उनकी व्यापक अध्ययनशीलता का प्रमाण देते थे। भाषा की शुद्धता और समझ को लेकर वे बहुत आग्रहशील थे। वे अपने नजदीकी मित्र के लेखन में भी भाषाई दोष को नजरंदाज नहीं करते थे। वे जिस किसी नए लेखक से लिखने का आग्रह करते, यह पहले जाँच लेते कि उसकी भाषाई क्षमता कैसी है। इस अर्थ में वे पुरानी परंपरा के बहुपठित और बहुभाषी पत्रकारों की जमात के आदमी थे। उनसे जैसी भी असहमति हो, ज्ञान और भाषा की उनकी समझ से असहमति किसी की नहीं होती थी।

मित्रवत्सलता राजकिशोर के व्यक्तित्व का ऐसा गुण था जिसे नजरंदाज नहीं किया जा सकता। मेरी एक किताब का पुस्तक मेले में लोकार्पण होना था, मैंने कहा कि आप ही उसका लोकार्पण कर दें। वे आने की मनःस्थिति में नहीं थे, लेकिन मेरे आग्रह पर आए और खूब बोले भी। अगले सप्ताह एक अखबार में 'मेले में गोपेश्वर' नाम से टिप्पणी भी लिखी जो एक तरह से मेरी किताब की समीक्षा थी। समीक्षा का यह उनका अपना ढंग था। वह साहित्यिक कम सामाजिक महत्त्व पर अधिक जोर देने वाला था।

इधर के दिनों में वे समाजवादी आन्दोलन के बिखर जाने से बहुत बेचैन थे। फोन पर या मिलने पर राजनीति और समाज संबंधी अपनी बेचैनी भी शेयर करते थे। इसी सिलसिले में वे कई बार मेरे घर भी आए। एक बार उनके साथ विमला भाभी भी थीं। वे चाहते थे कि दिल्ली में गाँधी, लोहिया, अम्बेडकर आदि की वैचारिकी से प्रभावित जो बुद्धिजीवी हैं, जो कठमुल्ले नहीं हैं, उनका एक मंच होना चाहिए। उन्हीं की पहल पर कुछ साथियों की मदद से 'संवेदन' नाम का एक वैचारिक मंच बना जिसके जरिए कुछ अच्छे आयोजन हमने दिल्ली में किये। राजकिशोर जी हर आयोजन में उत्साहपूर्वक शामिल हुए। इधर के दिनों में देश और समाज में जो राजनीतिक सामाजिक स्थितियाँ हो गई हैं उससे वे बहुत बेचैन थे। वे कहते थे कि इन हालातों से कोई पार्टी ईमानदारीपूर्वक नहीं लड़ रही है। वे अक्सर कहते कि हमलोगों को एक नए राजनीतिक दल का गठन करना चाहिए और सही परिवर्तन के लिए संघर्ष करना चाहिए। हम उन्हें बताते कि राजनीतिक दल का गठन हम आप जैसे बुद्धिजीवियों से संभव नहीं है, उसकी अनेक कठिनाइयाँ हैं तब भी वे राजनीतिक दल बनाने की अपनी बात पर अड़े रहते थे। उनके आग्रह पर जब मुझ जैसे साथियों ने ध्यान नहीं दिया, तब उनका जोर इस बात पर पड़ा कि हमें एक ऐसी वैचारिक पत्रिका निकालनी चाहिए जिसकी प्रसार संख्या ज्यादा हो। इसके जरिए वे जन सामान्य को वैचारिक रूप से समृद्ध करने का भाव रखते थे। पत्रिका का निकलना शायद संभव होता तबतक उनके ऊपर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा।

राजकिशोर जी की मित्रवत्सलता भी बहुत रचनात्मक होती थी। तीन साल पहले मेरे जन्मदिन से एक दिन पूर्व उन्होंने फोन किया कि जन्मदिन पर मैं क्या कर रहा हूँ। मैंने जब उन्हें बताया कि मैं अपना जन्मदिन नहीं मनाता हूँ तब उन्होंने एक बहुत ही रचनात्मक सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि कल के दिन मैं आपके साथ रहना चाहता हूँ। आप अपने किसी वैचारिक हीरो पर बोलिए। मैंने कहा कि यह संभव है लेकिन तब जब आप उपस्थित रहेंगे। मैंने बता दिया कि मैं राममनोहर लोहिया की सांस्कृतिक चिंता पर बोलूँगा। वे सहर्ष आए और दिल्ली विश्वविद्यालय के मानसरोवर छात्रावास में हमलोग मिले। दिल्ली विश्वविद्यालय के अनेक अध्यापकों और छात्रों के बीच लोहिया की संस्कृति-चिंता पर बात करते हुए और चाय पीते हुए उनकी अध्यक्षता में मेरा 60वाँ जन्मदिन मनाया गया। उन्होंने उस दिन एक महत्त्वपूर्ण बात कही। उन्होंने कहा कि यदि हमें अपना जन्मदिन मनाना ही है तो हमें उस दिन उस आदमी को याद करना चाहिए जिनका हमारे निर्माण में महत्त्व है।

खुरदुरापन राजकिशोर जी के व्यक्तित्व का अभिन्न हिस्सा था। रहन-सहन से लेकर बोली-बानी और लेखन सब में खुरदुरापन था। वैसा ही खुरदुरापन जैसा गाँधी युगीन खादी में हुआ करता था। अपने लेखन और व्यक्तित्व में इसी खुरदुरे सौंदर्य को उन्होंने जीवन भर बनाए रखा। इसी कारण समाज का अंतिम जन उनकी चिंता के केंद्र में हमेशा रहा। लिखा तो उन्होंने कई विधाओं में लेकिन सबसे अधिक याद किया जाएगा उनका वह वैचारिक लेखन जो गाँधी, लोहिया और अम्बेडकर के जादुई स्पर्श से नई चमक के साथ हिंदी समाज को प्रकाशित करता रहा।

38/4 छात्र मार्ग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो. 8826723389

●

समाजवादी पत्रकार का चला जाना अखरता रहेगा

गंगा प्रसाद

समाजवादी विचार के पत्रकार राजकिशोर जी का बेसमय चला जाना अखरता रहेगा। समाज और देश से जुड़े मुद्दों को लेकर विचार और कर्म के स्तर पर संघर्ष करता हुआ कोई व्यक्ति अपने बीच से चला जाता है, तो उसके बारे में कुछ सहज नहीं होता। उसकी याद सहज नहीं रहने देती। ऐसी स्थिति में उसके बारे में लिखना विकट होता है।

राजकिशोर जी के निधन की जानकारी मुझे सबसे पहले अफलातून जी से मिली। उस समय मैं रांची से कांचरपाड़ा लौट रहा था। उन्होंने मुझे राजकिशोर जी के बारे में लिखने को कहा। मैंने हाँ तो कह दिया लेकिन कई बार लिखने के लिए बैठा, तो लिख नहीं पाया। अफलातून जी को दोबारा लिखने के लिए कहना पड़ा। वायदा कर काम नहीं करना अपराध ही होता है।

राजकिशोर जी कलकत्ता (कोलकाता) से प्रकाशित होने वाले हिंदी साप्ताहिक रविवार में शुरू से थे। उसका प्रकाशन 1977 से शुरू हुआ। इसी साल अशोक (सेकसरिया) जी मुझे अपने साथ लेकर रविवार के कार्यालय संपादक सुरेंद्र प्रताप सिंह जी से मुलाकात करने गए थे। वहीं राजकिशोर जी से मुलाकात हुई और धीरे-धीरे मेरा उनसे मेल-जोल बढ़ गया। बाद में अस्थायी तौर पर मैं भी रविवार से जुड़ गया था और दफ्तर में नियमित रहने की वजह से उन्हें काफी जान पाया।

राजकिशोर जी कभी खाली नहीं बैठते थे। संवाददाताओं की कापी ठीकठाक करते रहते, नहीं तो कोई न कोई किताब पढ़ते रहते। संवाददाताओं की कापी ठीकठाक करते वक्त जब तब शब्दकोष भी देखते। कहीं कुछ शंका होती तो सहकर्मियों से जानकारी लेने में नहीं हिचकते। कभी-कभी तो कुछ जानने के लिए सुरेन्द्र प्रताप सिंह जी से भी पूछ लिया करते थे। वे जिस कापी को ठीकठाक करते, उसमें निखार आ ही जाता था। तरह-तरह से जानकारी लेने, पूछने-ताछने, शब्दकोष देखने का राजकिशोर जी का यह गुण आमतौर से पत्रकारों में नहीं होता।

सुरेन्द्र जी के काफी आग्रह पर अशोक जी भी कुछ महीने के लिए रविवार से अस्थाई तौर पर जुड़ गए थे। अशोक जी जितने महीने रविवार में रहे, राजकिशोर जी को काफी सहूलियत हुई। सहूलियत इस मायने में कि राजकिशोर की गंभीर से गंभीर मुद्दे पर अशोक जी से चर्चा करते और स्पष्ट राय बनाते। जिन मुद्दों पर राजकिशोर जी को दूसरे किसी से चर्चा करने पर संतुष्टि नहीं होती, उन मुद्दों पर अशोक जी से चर्चा कर उन्हें संतुष्टि होती। शाम को दफ्तर से निकलने के बाद तो राजकिशोर जी और अशोक जी काफी समय तक किसी न किसी मुद्दे पर चर्चा करते ही रहते। मैं साथ रहता और सुनता रहता।

राजकिशोर जी खूब लिखा करते थे। रविवार में तो लिखते ही थे, दूसरे पत्र-पत्रिकाओं में भी लिखा करते थे। लेकिन छद्म नाम से लिखते थे। रविवार में नौकरी थी, इसलिए उन्हें छद्म नाम से लिखना पड़ता था। इंदौर से निकलने वाले अखबार नई दुनिया, जयपुर से निकलने वाली पत्रिका इतवारी समेत कई पत्र-पत्रिकाओं में लिखा करते थे। इन पत्र-पत्रिकाओं में पश्चिम बंगाल की राजनीतिक गतिविधियों और घटनाओं के बारे में मैं भी बतौर स्वतंत्र पत्रकार नियमित लिखता था, इसलिए मुझे पता था। कभी-कभी तो अशोक जी से पता चल जाता था। वे गंभीर से गंभीर और बड़े से बड़े मुद्दे पर सहजता से लिखते थे ही, किसी भी छोटे मुद्दे पर भी इस तरह लिख डालते थे कि वह गंभीर बन जाता था और उसे पूरा पढ़े बिना कोई नहीं थम सकता था। अंगरेजी या बंगला का उनका अनुवाद भी बहुत ही गठा हुआ होता था कि कोई उसे पढ़ अनुवाद नहीं कर सकता था। उनकी लिखावट बहुत ही सुंदर होती थी। वे सिगरेट भी खूब पीते थे। उनकी लिखावट और सिगरेट पीने की अदा मैं नहीं भूल पाया हूँ। लिखते वक्त जरूर सिगरेट पीते रहते और बीच-बीच में चश्मा को कागज से ही साफ किया करते। सिगरेट पीने के मामले में वे अशोक जी के टक्कर के थे।

रविवार को छोड़ वे हिंदी पत्रिका परिवर्तन संभालने चले गए। लेकिन उसे छोड़ फिर रविवार में आ गए। अपने काम में कोई कमी थी, ऐसी बात नहीं थी। दरअसल संपादक को प्रबंधन के काम को भी निपटाना पड़ता था, इसमें उनको महारथ नहीं था। अपनी राय रखने और स्पष्ट बोलने में पीछे नहीं रहते। कई बार इसके चलते उनका नुकसान भी हुआ।

रविवार बंद होने के बाद उन्हें दिल्ली चला जाना पड़ा। रविवार में रहते पटना में नवभारत टाइम्स में मेरी संवाददाता की नौकरी हो गई। पटना से जब भी कलकत्ता जाता तो रविवार के दफ्तर में जरूर जाता और राजकिशोर जी से मुलाकात करता। वे अशोक जी से मेरा समाचार लेते रहते और अशोक जी मुझे उनका समाचार बताते रहते थे। वे जब भी दिल्ली से कलकत्ता आते तो अशोक जी से मुलाकात करते। कई बार मेरी मुलाकात अशोक जी के यहाँ ही हुई। रिटायर होने के बाद एक बार अशोक जी के यहाँ ही मेरी उनसे मुलाकात हुई। वे जब भी मिले उन्होंने यह जरूर पूछा कि मैं क्या कर रहा हूँ। यह पूछने के पीछे उनकी यही मंशा होती कि मैं कुछ न कुछ लिखूँ-पढ़ूँ। शिथिल नहीं पड़ूँ। मेरी उनसे ज्यादा बातचीत भले नहीं होती, लेकिन लगाव कम नहीं था। इसका कारण यह कि वे विचार और कर्म के स्तर पर सचमुच समाजवादी थे।

●

हिंदी पत्रकारिता को नई शैली और नजरिया दे गए राजकिशोर

हरिमोहन मिश्र

चार मई को राजकिशोर ने मृत्यु से लगभग तीन हफ्ते के कड़े संघर्ष के बाद अपनी प्रिय पुस्तकों सुनंदा की डायरी (उपन्यास), एक अहिंदू का घोषणापत्र, हरिजन से दलित, मुस्लिम : मिथक और यथार्थ और आंबेडकर विचार कोश के साथ अंतिम विदाई ली। उसके बमुश्किल डेढ़ महीने पहले 22 अप्रैल को अपने युवा बेटे विवेक की अर्थी उठने के वक्त राजकिशोर की ऊंची आवाज गरजी थी, कोई राम नाम नहीं कहेगा। उसके पहले वे बता चुके थे कि यह नास्तिकों की परीक्षा की घड़ी है। उनकी संगिनी विमला जी और बेटी अस्मिता ने उनके हर कहे का ध्यान रखा और तनिक भी विचलित नहीं हुईं।

विमला जी याद करती हैं कि उनकी शादी के वक्त भी राजकिशोर ने किसी तरह के धार्मिक कर्मकांड को नहीं माना था। हमेशा अपनी मान्यताओं पर अडिग रहने वाले राजकिशोर की पत्रकारिता और लेखन समाज को गहरे मथने वाले मुद्दों पर ही केंद्रित रहा। उन्होंने जिस दौर में पत्रकारिता शुरू की थी, वह इमरजेंसी का दौर चेतना को गहरे चुनौती दे रहा था। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान उभरे मूल्यों और संवेदनाओं को झकझोर रहा था। दो जनवरी 1947 (हालांकि यह उनकी औपचारिक जन्मतिथि ही थी, जैसी हाल तक स्कूल में दर्ज हमारी जन्मतिथियाँ ही स्वीकार्य होती थीं) को जन्मे राजकिशोर को इन मूल्यों और संवेदनाओं ने जैसे काट खाया था।

वे कुजात लोहियावादी थे जैसा कि उनके नेता किशन पटनायक अपने लोहिया विचार मंच के बारे में कहा करते थे (लोहिया खुद को कुजात गांधीवादी कहा करते थे)। कलकत्ता से निकलने वाली चौरंगी वार्ता से जुड़े थे, जिसका संपादन प्रोफेसर रमेश सिंह और अशोक सेकसरिया किया करते थे। समाजवादियों के इस समूह में संदीप दास, यमुना सिंह, उमराव जी, योगेंद्र पाल जैसे अनेक लोग थे जिन्होंने समाज और राजनीति को हमेशा दिया ही दिया, लिया कुछ नहीं। इस समूह के धुरी थे चटगांव शस्त्रागार विद्रोह के सेनानी दिनेश दासगुप्त। इमरजेंसी में गिरफ्तारियों के बाद यह पत्रिका बंद हो गई और बाद में 1977 में 'सामयिक वार्ता' नाम से पटना से निकली।

इमरजेंसी हटी और चुनाव में नई संभावनाएँ उभरीं तो पत्रकारिता और लेखन में नई ऊर्जा पूरे देश में देखने को मिली। देश, समाज और राजनीति में बदलावकारी भूमिका निभाने के लिए पत्रकारिता में नए-नए प्रयोग शुरू हुए। भाषायी और खासकर हिंदी पत्रकारिता को भी यह ऊर्जा नई गति दे रही थी। ऐसे दौर में कलकत्ता (अब कोलकाता) से निकली पत्रिका रविवार में राजकिशोर ने एक तरह से नियमित पत्रकारिता शुरू की और अपनी लेखनी को समाज में हाशिए पर पड़े समाजों के हक-हुकूक के मुद्दों को धारदार करने का औजार बनाया। उनके प्रिय विषय स्त्री, दलित, आदिवासी और पिछड़ों की पीड़ा और संघर्ष थे। हालांकि, देश, समाज और दुनिया की हर हलचल पर उनकी पैनी नजर रहती थी और लेखन के अलावा सामान्य बातचीत में भी वे तमाम मुद्दों पर जिरह करते रहते थे।

रविवार के बाद वे कुछ समय कोलकाता से ही परिवर्तन नामक पत्रिका का संपादन करते रहे। फिर 1990 में वे नवभारत टाइम्स, दिल्ली में आ गए। यह वही दौर था जब देश की राजनीति फिर एक नए मोड़ पर थी। मंडल और मंदिर के मुद्दे पूरे समाज को मथ रहे थे। दिल्ली और खासकर उत्तर भारत के कुछ शहरों में आरक्षण विरोधी आग जल उठी तो राजकिशोर ने न सिर्फ संपादकीय 'कृपया यह न करें' लिखा, बल्कि दिल्ली में एक मौन जुलूस की अगुआई भी की। यही वह दौर भी था जब आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण की राहें भी खुलीं और बाजार पत्रकारिता पर हावी होने लगा। टाइम्स समूह की पत्रकारिता में बाजारीकरण की आँच सबसे पहले महसूस की गई। नतीजतन, संपादक नाम की संस्था का ह्रास होने लगा। ऐसी पत्रकारिता राजकिशोर के अनुकूल नहीं थी। सो, उन्होंने विदा ले लिया।

लेकिन उस दौर में भी जो मुद्दे पत्रकारिता से छूट रहे थे, उन पर विस्तृत चर्चा के लिए उन्होंने 'आज के प्रश्न' शृंखला की शुरुआत की, जिसकी पुस्तकें वाणी प्रकाशन से छपीं। इसी शृंखला की पुस्तकें हरिजन से दलित और मुस्लिम मिथक और यथार्थ हैं, जो उन्हें सबसे प्रिय थीं। नवभारत टाइम्स से हटने के बाद राजकिशोर ने अपनी पत्रिका 'दूसरा शनिवार' निकाला, लेकिन वह आर्थिक दिक्कतों से बहुत आगे नहीं बढ़

पाई। फिर उन्होंने इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट की पंचायती राज पर अंग्रेजी और हिंदी पत्रिका का लगभग एक दशक तक संपादन किया। इस दौरान उनके स्तंभ लगभग हर हफ्ते हिंदी के पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे। जनसत्ता, सहारा, दैनिक जागरण जैसे तमाम हिंदी प्रकाशनों में उनके स्तंभ पाठकों को निरंतर हर मुद्दे पर नए नजरिए से सोचने-समझने को मजबूर करते रहे।

कुछ समय वे वर्धा के अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में अतिथि लेखक रहे और 'हिंदी समय' नामक वेबसाइट का संपादन किया। यह हिंदी समाज के लिए उनका एक अनोखा योगदान है। कुछ वक्त उन्होंने एपीएन चैनल के प्रकाशन में भी गुजारे और कुछ महीनों पहले तक इंदौर से निकलने वाले 'रविवार डाइजेस्ट' का भी संपादन किया।

हाल के दौर में देश के माहौल से वे बुरी तरह व्यथित थे और अवसाद के झटके भी झेल रहे थे। इधर कुछ समय से वे करीबी लोगों से कहने लगे थे कि अब लिखने का मन नहीं होता क्योंकि लिखने का असर नहीं होता है। असल में राजकिशोर को जाति और वर्गविहीन समतामूलक समाज निर्माण की दिशा में पहल करने की प्रेरणा ही लेखन के लिए प्रवृत्त करती रही है। उन्हें यह प्रेरणा लोहियावादी राजनीति की उस धारा से मिली थी, जिसमें किशन पटनायक, सच्चिदानंद सिन्हा, अशोक सेकसरिया जैसे विचारक रहे हैं। राजकिशोर आज भी इसी धारा के संगठन 'समाजवादी जन परिषद' से जुड़े थे। हाल की इसकी बैठकों में और अपने करीबी लोगों से भी राजनैतिक सक्रियता बढ़ाने पर जोर देने लगे थे। उन्हें यह एहसास गहरे झकझोरने लगा था कि राजनैतिक सक्रियता ही देश को मौजूदा दशा से बाहर निकाल सकती है।

उनकी पत्नी विमला जी याद करती हैं कि दिल्ली के अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) में वेंटिलेशन पर जाने के पहले उनकी दो ही चिंताएं थीं। एक, बेटे विवेक को अगर एम्स में लाया जाता तो शायद बच जाता। दूसरे, कर्नाटक चुनाव का क्या हुआ? उस समय भाजपा के बीएस येदियुरप्पा को राज्यपाल सबसे बड़े दल के नाते शपथ दिलवा चुके थे लेकिन कांग्रेस और जनता दल (सेकुलर) ने गठजोड़ बना लिया था। उन्होंने डॉ. अनूप सराया से कहा कि राहुल गांधी ने यह पहले ही कर लिया होता तो यह नौबत नहीं आती। असल में बिना किसी तरह का समझौता किए निरंतर बदलावकारी भूमिका निभाना ही राजकिशोर के जीवन का मर्म रहा है।

●

पत्रकारिता के कबीर राजकिशोर!

जयशंकर गुप्त

निजी और मानवीय संदर्भों में वज्रपात के मायने देखे जाएँ तो ऐसा विमला भाभी के साथ हुआ है। तकरीबन सवा महीने महीने पहले, 21 अप्रैल को 40 वर्षीय प्रतिभावान युवा पत्रकार पुत्र विवेक राज उन्हें और हम सबको छोड़ कर अनंत की यात्रा पर निकल गया। अभी वह और उनका परिवार इस शोक से उबरने की कोशिश कर ही रहे थे कि उम्र के 71 वर्ष पूरा कर रहे उनके पति, यशस्वी पत्रकार, संवेदनशील लेखक, संपादक, गांधी, मार्क्स, लोहिया और आंबेडकर से प्रभावित समाजवादी चिंतक और विचारक राजकिशोर भी बीते चार जून को उन्हें और उनकी युवा पुत्री गुड़िया उर्फ अस्मिता के साथ ही अपने मित्रों-परिचितों और पाठकों के एक बहुत बड़े संसार को अलविदा करते हुए बेसहारा छोड़ गए। 21 मई को फेफड़े में संक्रमण के बाद नोएडा के कैलाश अस्पताल और फिर नई दिल्ली के अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान के सघन चिकित्सा कक्ष में उन्हें ले जाया गया तो वहाँ से उनका पार्थिव शरीर ही बाहर आ सका। उन्हें निमोनिया ने भी जकड़ लिया था।

राजधानी दिल्ली के निगम बोध घाट पर सीएनजी से संचालित शवदाह गृह में उनकी अंत्येष्टि के अवसर पर विमला जी ने बिलखते हुए पूछा भी कि उन्होंने किसी का क्या बिगाड़ा था जो सवा महीने के अंतराल में जवान बेटा और फिर पति भी उन्हें बेसहारा छोड़ गए। किसके भरोसे! उनका दर्द समझा जा सकता है लेकिन नियति और नियंता, अगर कहीं है भी तो उसे यह बातें कहां समझ में आती हैं। नियति तो निष्ठुर ही होती है।

लेकिन विमला जी के निजी के दर्द से कम राजकिशोर जी के वंचित, शोषित, दलित, आदिवासी, पिछडे .एवं अल्पसंख्यक, व्यवस्था विरोध, लोकतंत्र और असहमति को

सम्मान देने में यकीन रखने वाले समाजों में पसरे उनके व्यापक पाठक संसार का दर्द भी नहीं है। उन्हें लगता है कि उनका प्रवक्ता उनके बीच से चला गया। वह जातिवादी, सांप्रदायिक, कट्टरपंथी, अंधविश्वासी, पूंजीवादी समाज पर कठोर प्रहार करते थे। उनके निधन पर पिछले चार दशकों से उनके करीबी मित्र वरिष्ठ पत्रकार एवं राजस्थान पत्रिका के सलाहकार संपादक ओम थानवी ने कहा— आज हिंदी पत्रकारिता में विचार की जगह और छीज गई।

राजकिशोर जी के साथ हमारे संबंध भी तकरीबन चार दशक पुराने ही कहे जा सकते हैं। हम जब पत्रकारिता की दुनिया में कदम रख रहे थे, उसी समय कलकत्ता, आज के कोलकाता से आनंद बाजार पत्रिका ने हिंदी साप्ताहिक रविवार का प्रकाशन शुरु किया था। उसे देख पढ़कर वह पत्रिका हमारे मन और विचारों के अनुकूल लगती थी। राजकिशोर जी को पढ़कर एक अजीब तरह का सकून मिलता था और लगता था कि उनका लेखन हमारे सोच के कितना करीब है। रविवार के साथ हमारा भी जुड़ाव बढ़ता गया। इलाहाबाद, काशी विश्वविद्यालय, जयपुर, दिल्ली और मुंबई में रहते हुए लगातार रविवार के साथ फ्रीलांस रिपोर्टर के रूप में जुड़ा रहा। एक समय ऐसा भी आया जब 1982 में सुरेंद्र प्रताप सिंह के नेतृत्व में रविवार की संपादकीय टीम के साथ जुड़ने का अवसर या कहें सौभाग्य हमें भी मिला। उसी के साथ राजकिशोर जी और टीम के बाकी सभी सदस्यों को काफी करीब से देखने का अवसर मिला। राजकिशोर जी के पास संपादन, लेखन का जबरदस्त सम्मिश्रण था। रविवार में प्रकाशित होनेवाले कुछ तथाकथित बड़े नामों को चमकाने में उनका योगदान सर्वाधिक होता था। उनकी रिपोर्टों को वह इस तरह तरह मांजते, संपादित करते थे कि रिपोर्टर जो कहना चाहे, उसकी आत्मा भी नहीं मरे और वह रिपोर्ट और अधिक मारक और चमकदार बन जाए। हालांकि रविवार की पुरानी टीम में ऐसा हुनर और भी कई साथियों के पास था।

राजकिशोर जी के पास शब्दों का अकूत भंडार था जिससे वह अपनी बात लोगों तक पहुंचा पाते थे। कुछ लोग कहते भी थे कि वह अपने शब्द भंडार के सहारे किसी भी विषय के पक्ष और विपक्ष में भी लिख सकने में समर्थ थे। भाषा इतनी सरल होती थी कि गूढ़ से गूढ विषय को भी अपने पाठकों तक वह बड़े ही सरल ढंग से समझा पाते थे। उनके लेखन में एक अजब तरह की तड़प और बेचैनी थी। यह तड़प और बेचैनी रविवार की खासतौर से शुरुआती संपादकीय टीम के तकरीबन सभी सदस्यों की विशेषता भी थी। और उन्हें सामने लाने की भूमिका में होते थे संपादक एसपी यानी सुरेंद्र प्रताप और राजकिशोर। रविवार में उनका साप्ताहिक स्तंभ आजकल बहुत लोकप्रिय और पठनीय होता था। रविवार के तत्कालीन संपादक उदयन शर्मा और उनकी टीम के कुछ सदस्यों के साथ नहीं बनने के कारण कुछ समय के लिए राजकिशोर रविवार से अलग होकर कलकत्ता में ही परिवर्तन नामक साप्ताहिक पत्रिका का संपादन करने लगे थे। लेकिन बाजार की स्पर्धा में वह पत्रिका टिक नहीं सकी और राजकिशोर जी वापस रविवार के साथ जुड़ गए।

इसे हमारी बदनसीबी ही कहेंगे कि रविवार की असामयिक मौत उस समय हो गई जबकि उसके तरह की पत्रिका की देश और समाज को बहुत आवश्यकता थी। उसके बाद एक और बदनसीबी कि रविवार की उस टीम के साथ जुड़े रहे कई वरिष्ठ साथी-सुरेंद्र प्रताप सिंह, उदयन शर्मा, योगेंद्र कुमार लल्ला और अभी राजकिशोर जी असमय हम सबको छोड़कर चले गए।

राजकिशोर जी मूल रूप से उत्तर प्रदेश में आजमगढ़ के थे। लेकिन उनके पिता कोलकाता में हावड़ा के पास जाकर बस गए थे। निम्न मध्यम वर्गीय वैश्य परिवार में राजकिशोर का बचपन और छात्रजीवन तमाम तरह के अभावों का सामना करते हुए ही बीता लेकिन इन सबने भी उनमें एक प्रखर और मजबूत समाजवादी धारा का पत्रकार पैदा किया। राजकिशोर जी का आधा जीवन अगर कलकत्ता में बीता तो बाकी की आधी उम्र राजधानी दिल्ली में कटी। रविवार के बंद होने के बाद वह नवभारत टाइम्स के साथ जुड़ने के बाद दिल्ली जो आए तो फिर दिल्ली के ही होकर रह गए थे। हम भी तकरीबन उसी समय दिल्ली आकर नवभारत टाइम्स के साथ जुड़े थे।

दिल्ली में भी नवभारत टाइम्स में उस समय प्रधान संपादक राजेंद्र माथुर और कार्यकारी संपादक सुरेंद्र प्रताप सिंह की जोड़ी हिंदी की दैनिक पत्रकारिता को परवान चढ़ा रही थी। उसको वैचारिक आधार देने में राजकिशोर जी का भी महत्वपूर्ण योगदान था। खासतौर से उस समय जब देश में मंडल और कमंडल की राजनीति चरम पर थी और हिंदी पत्रकारिता सवर्ण हिंदू पत्रकारिता में बदल सी रही थी, माथुर, एस पी और राजकिशोर जी की तिकड़ी ने तटस्थ भाव से सामाजिक न्याय और धर्मनिरपेक्षता का पक्ष लेकर पत्रकारिता के नए मानदंड कायम किए थे। लेकिन माथुर जी के निधन और उसके कुछ समय बाद ही एस पी सिंह के भी नवभारत टाइम्स से अलग हो जाने के बाद माहौल ने करवट लेना शुरू किया जिसमें राजकिशोर जैसे लोगों का रहना और काम कर पाना दुश्वार होता गया।

नवभारत टाइम्स से अलग होने के बाद राजकिशोर हिंदी

के वेब पाक्षिक 'दूसरा शनिवार' का संपादक बने, समाज विज्ञानी जार्ज मैथ्यू के 'इंस्टीट्यूट आफ सोशल साइंस' के साथ जुड़कर पंचायती राज का हिंदी और अंग्रेजी में प्रकाशन किया और तमाम पत्र-पत्रिकाओं में नियमित स्तंभ लेखन करते रहे। फिर वर्धा में अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में राइटर्स इन रेजीडेंस के बतौर जुड़े रहे। उन्होंने वर्धा में रहकर आनलाइन वेबसाइट 'हिंदी समय' का संपादन किया। वर्धा से लौटने के बाद वह एक बार फिर से स्वतंत्र लेखन में जुट गए। बाद के दिनों में उन्होंने 'रविवार डाइजेस्ट' के नाम से इंदौर से प्रकाशित मासिक पत्रिका का संपादन भी किया। इस रविवार का मास्टहेड भी पुराने रविवार की तरह का ही था लेकिन इसके साथ एक तो हिंदी डाइजेस्ट का नाम भी जुड़ा, दूसरे यह साप्ताहिक नहीं बल्कि मासिक पत्रिका है। बहुत कम समय में उन्होंने इसे वैचारिक विमर्श की पत्रिका बना दिया। लेकिन फिर वह इससे अलग भी हो गए थे।

यह सब करते हुए भी राजकिशोर का अध्ययन और लेखन बदस्तूर जारी रहा। बीमार होने तक वह सोशल मीडिया और खासतौर से फेसबुक पर लगातार सक्रिय रहे।

उनके लेखन के अनेक रंग थे। उन्होंने सुनंदा की डायरी के नाम से उपन्यास, पत्रकारिता के पहलू, पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य, धर्म, सांप्रदायिकता और राजनीति, एक अहिंदू का घोषणापत्र, जाति कौन तोड़ेगा, सोचो तो संभव है, रोशनी इधर है, स्त्री पुरुष, कुछ पुनर्विचार, स्त्रीत्व का उत्सव, गांधी मेरे भीतर जैसी पुस्तक-पुस्तिकाओं के साथ ही सम सामयिक मुद्दों और समस्याओं पर केंद्रित 'आज के प्रश्न' का संपादन भी किया। लेखन उनके लिए आत्मिक सुख के साथ ही, आजीविका का साधन भी था। किताबों के साथ उनका प्रेम किस कदर था, इसे इस रूप में भी समझ सकते हैं कि पूरी तरह से कर्मकांड विरोधी राजकिशोर ने मरने से पहले इच्छा जाहिर की थी अनंत की यात्रा के समय उनके साथ सिगरेट, बिस्कुट और उनकी कुछ पसंदीदा पुस्तकें जैसे-सुनंदा की डायरी, एक अहिंदू का घोषणापत्र, 'आज के प्रश्न', 'हरिजन से दलित', 'मुस्लिम : मिथक और यथार्थ' तथा 'आंबेडकर विचार कोष' रख दी जाएं। ऐसा ही किया गया। पुत्र विवेक के अंतिम संस्कार पर उन्होंने लोगों से राम नाम सत्य का जयकारा लगाने से साफ मना किया। वे ईश्वर के अस्तित्व और उसकी सत्ता में यकीन नहीं करते थे। यह उनके लेखन और व्यवहार में भी परिलक्षित होता था। उन्होंने अपना सारा जीवन अपने बेबाक लेखन और कबीर जैसे फक्कड़ व्यवहार के साथ जिया और तमाम दिक्कत परेशानियों और विरोध को झेला भी।

उनके करीबी मित्र, वरिष्ठ पत्रकार एवं अंतराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहे अरुण त्रिपाठी के अनुसार, ''उनके जैसा स्तंभकार हिंदी पत्रकारिता ने पिछले तीन दशकों में तो नहीं पैदा किया। बातचीत में चुटकी लेते हुए बड़ी से बड़ी आलोचना और आँख खोलने वाली बात कह जाना कोई राजकिशोर जी से सीखे। इसी फक्कड़पन के कारण कई लोग जो उनके लेखन के मुरीद थे और उन्हें पढ़कर उनसे मिलने को आतुर रहते थे लेकिन मिलकर दूरी बना लेते थे।'' राजकिशोर लेखन में जितने संयमित रहते थे बातचीत और जीवन में उससे अलग थे। वह चुटकी तो लेते ही थे, कभी कभी अपने किसी करीबी को भी चिकोटी काटने से गुरेज नहीं करते थे। पिछले दिनों फेसबुक पर उन्होंने केंद्रीय बजट को लेकर एक अश्लील टिप्पणी की थी जिस पर कई लोग हँसते हुए, कुछ कोसते और उनकी आलोचना करते हुए दिखे।

निश्चित तौर पर 70-71 वर्ष की उम्र में राजकिशोर अपने जवान बेटे की मौत से भीतर से टूट से गए थे लेकिन बाहर से यही दिखाते थे कि जैसे उन पर इसका कोई फर्क नहीं पड़ा है। विवेक के निधन के बाद और उनके बीमार होने से कुछ दिन पहले हम उनके निवास पर मिले थे। रविवार और नवभारत टाइम्स में सहयोगियों से लेकर दुनिया जहान की बातें हुई थीं। विमला जी हमारी पत्नी गीता जी को पकड़कर बिलखती नजर आतीं लेकिन राजकिशोर जी उन्हें ढाँढस देते नजर आते। लेकिन अब लगता है कि कुछ तो अंतर था उनके भीतर और बाहर में जिसे वह छुपाना चाहते थे लेकिन ज्यादा समय तक छुपा नहीं सके।

राजकिशोर समाजवादी और वामपंथी धारा के लेखक पत्रकार और विचारक कहे जाते थे लेकिन वह कबीर की तरह किसी को छोड़ते नहीं थे। अगर वह कम्युनिस्टों पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि ---

'मार्क्स और लेनिन की
शिक्षाएं भूल गए
सत्ता की फांसी पर
खुशी खुशी झूल गए
स्वयं रूस में मिले
बेटे यूएस में निकले
ऊंचे सिद्धांत सब
जल्दी ही फिजूल गए।'

तो उसी रौ में समाजवादियों को भी नही बख्शते-

'देश को बनाने चले थे
अपने को भी नहीं बना पाए
हमारे समाजवादी
कम्युनिस्टों की आलोचना करते-करते

उनसे भी बुरे पाए गए
हमारे समाजवादी।'

राजकिशोर बातचीत, लेखन और व्यवहार में बहुत लोकतांत्रिक थे। वे उसके लिए जिए और उसके लिए मरे भी। आज जब लोकतंत्र और संविधान पर संकट आ पड़ा साफ दिख रहा है तो नब्बे के दशक की राजकिशोर की बौद्धिक भूमिका याद आती है। उन्होंने मंडल, मंदिर और वैश्वीकरण की बेचैनी के दौर में नवभारत टाइम्स समेत विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के पन्नों के माध्यम से अपने विचारों की अलग छाप छोड़ी।

वह राजनीति में वंशवाद के विरुद्ध थे लेकिन इसके लिए वह किसी एक दल अथवा परिवार को ही नहीं बल्कि पूरी राजनीतिक व्यवस्था को ही दोषी मानते थे। वह जितना वंशवाद के विरुद्ध थे उतना ही व्यक्तिवाद के भी। 'वंशवाद बुरा है तो क्या व्यक्तिवाद अच्छा है' शीर्षक से अपने लेख में उन्होंने लिखा, ''प्रधानमंत्री पद के लिए कांग्रेस के उम्मीदवार राहुल गांधी की सब से बड़ी आलोचना यह है कि वे वंशवाद का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। अगर वे नेहरू-गांधी परिवार के न होते, तो शायद उन्हें कोई जानता भी नहीं। मजे की बात है कि स्वयं राहुल गांधी ने भी राजनीति में वंशवाद की आलोचना की है। लेकिन इससे वे अपने ऊपर लगे वंशवाद के आरोप से बरी नहीं हो जाते। अगर वे सचमुच वंशवाद का विरोध करते हैं, तो कायदे से, कांग्रेस पार्टी का अध्यक्ष होने के नाते, इतना तो घोषित करना ही चाहिए था कि अगर कांग्रेस की सरकार बनी, तो प्रधानमंत्री का चुनाव नव निर्वाचित सांसद करेंगे।''

इसी लेख में आगे चलकर वह लिखते हैं, ''वंशवाद अगर बुरा है, तो व्यक्तिवाद भी कम बुरा नहीं है। कोई एक आदमी पूरी पार्टी पर हावी हो जाए और अपने को हजार का नोट तथा दूसरों को पाँच-दस रुपए का नोट मानने लगे, तब जनतंत्र के विलाप के दिन आ जाते हैं। अपनी बेटी इंदिरा गांधी को पार्टी अध्यक्ष बनाने से पहले तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू वंशवादी नहीं थे, पर व्यक्तिवादी जरूर थे। कांग्रेस के एक और बड़े नेता सरदार पटेल से उनका टकराव तब तक बना रहा जब तक सरदार जीवित थे। यह व्यक्तिवाद हमारे समाज का एक बुनियादी लक्षण है। जिसके पास थोड़ी-सी भी सत्ता आ जाती है, वह अहंकार से पागल हो जाता है। हमारे देश में व्यक्तिवादी नेताओं की एक लंबी परंपरा है। इंदिरा गांधी, मोरारजी देसाई, संजय गांधी, ज्योति बसु, एन टी रामाराव, मायावती, लालू प्रसाद, विश्वनाथ प्रताप सिंह, चंद्रशेखर, आदि-आदि। भाजपा के नेता नरेंद्र मोदी इस समय देश के सबसे बड़े व्यक्तिवादी नेता हैं। उनके सामने उनकी पार्टी बौनी नजर आती है। वंशवाद की निंदा का समय आ गया है, व्यक्तिवाद की भर्त्सना कब शुरू होगी? यह लेख उन्होंने कुछ ही दिनों पहले लिखा था। वह लगातार लिख रहे थे। विभिन्न पत्र पत्रिकाओं, वेबसाइटों और सोशल मीडिया पर भी। बेटे के निधन के बाद भी उनका लेखन जारी था। हालांकि वह शारीरिक और मानसिक रूप से भी खुद को अशक्त मानने लगे थे। ओम थानवी याद करते हैं, ''मेरे आग्रह पर वह राजस्थान पत्रिका के लिए कुछ सहयोग करने लगे थे। एक मेल में उन्होंने लिखा, ''दुख को कब तक अपने उपर भारी होने दिया जाए।'' फिर जल्दी ही एक और मेल भेजा, ''तबीयत ठीक नहीं रहती। शरीर श्लथ और दिमाग अनुर्वर। फिर भी आप का दिया काम टाल नहीं सकता। आज हाथ लगा रहा हूं।''

उनके आत्मकथ्य के बारे में उनकी ही एक कविता उद्धृत की जा सकती हैं,

''मुझे लिखना था
ताकि दुनिया को बता सकूँ,
उसके बारे में,
मैंने रात रात भर जाग कर
कागज काले किए, लिखते हुए
अपने ही बारे में,
यही है छोटी सी आत्मकथा
जो लोग मेरी अर्थी उठाएंगे,
वे मेरे बारे में एक दूसरे को क्या बताएंगे।''

राजकिशोर जी के बारे में अभी और बहुत कुछ लिखा, पढ़ा और बताया जाना शेष है क्योंकि राजकिशोर रोज रोज पैदा नहीं होते।

26 बी, स्काईलार्क अपार्टमेंट, गाजीपुर
दिल्ली 110096

●

विरल और उदात्त व्यक्तित्व : राजकिशोर

मंजू रानी सिंह

राजकिशोर जी से मेरी पहली मुलाकात 1982 ईस्वी में शांतिनिकेतन में हुई थी, तब वे 7 अगस्त को होने वाले 'वृक्षरोपण' उत्सव को देखने के लिए सपरिवार यहाँ आए थे । उत्सव की चहल-पहल और उत्साही भीड़ में हम दोनों ही दर्शक थे, मैं यहाँ की छात्रा और वे एक पर्यटक। उम्र, अनुभव और संलग्नता के स्तर पर हममें काफी अंतर था।

उनके पास तटस्थ और यथार्थवादी समीक्षक दृष्टि थी तथा निर्धारित जीवन मूल्य भी जबकि शांतिनिकेतन के प्राकृतिक परिवेश, अध्ययन पद्धति, खुली जीवनशैली और राविन्द्रिक जीवन मूल्यों के प्रति मेरी रागात्मक संलग्नता के कारण इसे देखने कि मुझ में एक सकारात्मक दृष्टि थी। 'वृक्षारोपण' शांतिनिकेतन में नए जीवन के आरोपण का एक प्रतीकात्मक उत्सव है जो काफी वर्षों से रवीन्द्र की पुण्यतिथि के अवसर पर मनाए जाने की परंपरा है। गुरुदेव मृत्यु को जीवन का अंत नहीं बल्कि नव जीवन का आरंभ, सृजन आदि मानते थे। उनके जीवन काल में यह वृक्षारोपण श्रावण मास की किसी निर्धारित तिथि को मनाया जाता था जो बाद में उनके प्रयाण दिवस पर निर्धारित कर दिया गया।

जो भी हो, हमेशा से ही यह काफी धूमधाम, गीत नृत्य और सांस्कृतिक समारोह के साथ मनाया जाता रहा।

उस दिन भी शिशु वृक्ष को पालकी पर लाने और उसकी अभ्यर्थना में गीत नृत्य, पंचतत्व का आह्वान, उनसे जुड़े अथाह उत्साह, उमंग और आह्लाद को उनकी यथार्थवादी दृष्टि सहज ही पचा नहीं पा रही थी।

समाज और देश में भूख, बेरोजगारी, जातिभेद, संप्रदायवाद, पतनशील जीवन मूल्य एवं कुत्सित व्यवस्था से उपजी अनेक समस्याओं से उनका चिंतन और लेखन निरंतर जूझ रहा था, असंख्य मानवीय पीड़ा का हाहाकार उनको उद्वेलित बनाए रखता था। ऐसे में कहीं इतना हर्षोल्लास उन्हें कैसे रास आए। उनके अनुसार वृक्ष लगाने के लिए इतने खर्च और आयोजन की भला क्या जरूरत ? इतने समय और मेहनत में तो ढेर सारे वृक्ष लगाए जा सकते हैं। उनकी ऐसी प्रतिक्रिया में उनकी संवेदनशीलता और प्रश्नाकुलता ही व्यक्त हो रही थी । सचमुच जीवन केवल उत्तर ही तो नहीं है उसमें जटिलता है, अस्पष्टता है, धूमिलता, विरोध, द्वंद्व , असमंजस, विरोधाभास और जाने क्या-क्या। पर जीवन है कि थकता नहीं, उसका नैरंतर्य, उसकी त्वरा , गति अबाध है और इसी बहाव में संभवतः आकुल प्रश्नों के उत्तर भी।

उनके व्यापक ऑब्जरवेशन और जीवन मूल्यों से इनकार नहीं किया जा सकता था पर मेरी दृष्टि में रवीन्द्र दृष्टि और पद्धति से इसकी अपेक्षा गलत थी।

रवीन्द्र ने 'सत्य' को सौंदर्य में देखा। प्रकृति के कार्यकलाप उनकी दृष्टि में अपूर्ण सौंदर्य से भरे हुए हैं और रचनात्मक हैं, इसलिए उसकी रचनात्मकता के बोध के लिए ऐसे आयोजन हैं। यह 'शिशु-वृक्ष' तो प्रतीकात्मक है, फिर तो पूरे परिसर में जहाँ ये अपेक्षित हैं लगाए जाएंगे। मैंने उनका ध्यान इस तथ्य पर खींचा कि रवीन्द्रनाथ से एक सकारात्मक दृष्टि ली जा सकती है। 'जो सोचते हो कर डालो। अपने सपने को सच बनाने की चुनौती स्वीकार करो। अपने अपने मूल्यों के प्रति गंभीर होते हुए भी उनमें एक खुलापन था, जिसके तहत उन्होंने उक्त तथ्य को स्वीकारा। पुनः संभवतः उसी सकारात्मक दृष्टि से शांतिनिकेतन पर उन्होंने कई कविताएँ लिखीं।

वे रचनाकार के साथ-साथ बड़े स्वाध्यायी और चिंतक भी थे। लिखने की क्षमता भी बेजोड़ थी। गहन संवेदनशीलता तथा वैचारिक परिपक्वता से लैस लेखन की ऐसी तीव्र गति मेरी दृष्टि में विरल थी। उन्होंने मेरे अध्ययन तथा समीक्षा दृष्टि का भी दायरा बढ़ाने में काफी योगदान दिया । मैं छायावाद की शब्द-योजना पर काम कर रही थी। उन्होंने मुझे इस संदर्भ में सतर्क किया कि 'शब्द-योजना' पर काम करना सिर्फ शैलीगत विशेषताओं की परख नहीं बल्कि उस काव्यधारा की सामाजिक राजनीतिक प्रेरणाओं का भी अध्ययन बन जाता है।

क्योंकि प्रत्येक शब्द के पीछे एक पूरी संस्कृति होती है। उदाहरण के लिए ' मानव' शब्द । आज का रचनाकार उसके बजाय 'आदमी' शब्द का प्रयोग करता है। मानव और आदमी में सिर्फ यह फर्क नहीं है कि एक संस्कृत का शब्द है और दूसरा अरबी (या फारसी) का, उन से निकलने वाली ध्वनियों के बीच एक सांस्कृतिक दूरी और भावबोध की खाई भी है। मानव में अमूर्तन है और जिंदगी की ठोस (और तल्ख) सच्चाईयों से जरा दूर का वास्ता है जबकि 'आदमी' ज्यादा यथार्थपरक और आधुनिक जीवन दृष्टि के करीब है।

छायावाद की काव्य सौंदर्य के मूल स्रोतों की काफी बारीक जाँच-पड़ताल और इसके साथ-साथ उस समय की मूल्य चेतना और सांस्कृतिक दृष्टि पर विस्तार से बातचीत की

जा सकती है।

मैं नहीं जानती कि मैं कब पढ़ पाती या समय पर पढ़ पाती कि नहीं पर राजकिशोर जी के सानिध्य में मैंने जल्दी ही सी.डे. लेविस की 'पोएटिक इमेज' पढ़ ली। मैंने उन्हें अंग्रेजी में अपनी अच्छी गति न होने के कारण केवल अध्याय ३ - 'द पैटर्न ऑफ इमेजेस' पढ़ने और समझने की जिम्मेदारी दी थी पर उन्होंने पूरी पढ़ी और मुझे लिखा कि 'बिंब कहां से आते हैं और कविता में उनकी अहमियत क्या है, यह बताने के लिए लेविस ने जर्मन कवि रेनर मरिया रिल्के का एक लंबा उद्धरण दिया है। वह उद्धरण Rilke on love and other difficulties में पृष्ठ 93 से 94 पर है।'

यह एक मर्मांतक पीड़ा का विषय है कि आज राजकिशोर जी हमारे बीच नहीं हैं, स्मृति में बार बार आँसू भी उमड़ आते हैं, पर हमारे लिए एक आश्वासन भी है। वह यह कि वह हमारे लिए एक काया भर ही नहीं थे।

उनका देह+अंत=देहांत भर हुआ है, उनके विचार, चिंतन सान्निध्य के अनुभव और लेखन सभी जीवंत हैं।

अपनी गुणवत्ता के साथ हमारे बीच वे सदा ही अपनी अलौकिक उपस्थिति बनाए रखेंगे, अमर रहेंगे।

हांलाकि एक बड़ा सच यह भी है कि उनके दैहिक अवसान से हुई पारिवारिक यथार्थ क्षति किसी भी तरह पूरी नहीं हो सकती, पर परम विश्वास है कि उनकी पत्नी विमला जी जिनके साहसिक और कर्तव्यपरायण व्यक्तित्व की प्रशंसा करते राजकिशोर जी थकते नहीं थे तथा उनकी चहेती बेटी अस्मिता के जीवन से यह कभी भी अनुपस्थित नहीं हो सकते, बल्कि अपने अलौकिक व्यक्तित्व से उन्हें सदा ही प्रदीप्त और ऊर्जस्वित बनाए रखेंगे। अविस्मरणीय व्यक्तित्व को मेरी भावभीनी श्रद्धांजलि।

'उत्सव' सीमांतपल्ली, शांतिनिकेतन-731235
मोबाइलः09434326334

अशोक जी के बहाने राजकिशोर जी

बालेश्वर राय

जब राजकिशोर जी 'रविवार' पत्रिका में थे तब उनसे मेरा परिचय हुआ था। परिचय बहुत दिलचस्प तरीके से हुआ था - मैं कोलकाता 1980 में आया और भारतीय भाषा परिषद पुस्तकालय में नौकरी करने लगा था। मेरे पिता जी कोलकाता में ही थे और परिषद मैनेजमेंट से जान-पहचान थी इसलिए नौकरी के लिए इधर-उधर भटकना नहीं पड़ा था। हाँ, तो राजकिशोर जी उन दिनों कभी-कभार पुस्तकालय आते-जाते रहते थे।

उस समय पुस्तकाध्यक्ष श्री बजरंग बहादुर श्रीवास्तव जी हुआ करते थे। राजकिशोर जी उनसे बात करके और पत्रिका उलट-पुलटकर चले गये थे। उनके जाने के बाद मैंने श्रीवास्तव सर से पूछा, 'यह व्यक्ति कौन थे?' उन्होंने कहा, 'ये राजकिशोर जी हैं।' श्रीवास्तव जी मेरे हाथ में 'रविवार' पत्रिका देते हुए बोले, 'इसे देखो, वही निकालते हैं।' इस पत्रिका को मैं जब गाँव में था तब भी पढ़ा करता था। मेरे भाई साहब कोलकाता में ही पढ़ रहे थे सो गाँव आने पर अक्सर रविवार लेकर आ जाते थे। उस समय मैं नवीं-दसवीं में पढ़ रहा था सो मैं भी पत्रिका को उलट-पुलट कर देख लेता था। उस पत्रिका में राजकिशोर जी का भी नाम और उनका लेख हुआ करता था। चूँकि पत्रिका का कवर काफी आकर्षक रहता था सो एक बार जरूर ही उलटने-पलटने का मन करता था। परिषद पुस्तकालय में रोज ही देख रहा था सो पत्रिका देखने में कम और राजकिशोर जी से मेरी बात कैसे हो इसके लिए मन ज्यादा ही उत्सुक होने लगा था।

समय का अंतराल मुझे ठीक से याद नहीं, शायद दो-तीन महीने बाद ही परिषद में कोई बड़ा कार्यक्रम था उसमें वे भी आए थे। कार्यक्रम शुरू होने के पहले पुस्तकालय में आए और पहले की तरह ही पत्रिका देखने लगे। मेरा मन उनसे बात करने के लिए उतावला होने लगा था, सो मैंने उनसे पूछा, 'सर, पुरानी पत्रिकाएँ यहाँ रखी हैं, क्या निकाल दूँ?' वे खुश होकर मुझसे पूछने लगे, 'क्या आप भी पढ़ते-वढ़ते हैं?' कितना तक पढ़े हैं? मैंने कहा था, मैट्रिक की है। तब उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा था पढ़ते रहिए। उस समय मेरी उम्र 18-19 की होगी। मैंने कहा था, ' 'रविवार' में आप जो लिखते हैं उसको पढ़ता हूँ।' इस पर उनका कहना था - 'सिर्फ इसको ही मत पढ़िए और कुछ पढ़िए, पढ़ने के लिए और भी बहुत कुछ है।' मुझे उनका कहने का तरीका अच्छा नहीं लगा था, वे काफी गंभीर स्वभाव के लगे थे ; हँसमुख तो एकदम नहीं। मुझे लगने लगा था इस व्यक्ति से बात करना काफी कठिन है। इसके बाद कई बार पुस्तकालय आए-गए, पर मेरी उनसे बात करने की इच्छा नहीं होती, वे भी मुझसे कुछ नहीं पूछते।

संयोग से मैं कुछेक वर्ष बाद अशोक सेकसरिया जी के साथ रहने लगा था। एक दिन अशोक जी किसी से फोन पर बात कर रहे थे कि वे दिल्ली जाने से पहले उनसे जरूर मिलकर जाएँ। फोन रखने के बाद मुझे बुलाकर कहने लगे, 'कल राजकिशोर जी और विमला जी आएँगे, नाश्ता बना लीजिएगा।' मैं राजकिशोर जी का नाम सुनकर एकबार चौंका। फिर अशोक जी से कहने लगा, 'क्या आप उनको जानते हैं?' मेरी बात पर अशोक जी खूब जोर-जोर से हँसने लगे थे। जब से मैं उनके यहाँ रह रहा था इस तरह से उनकी हँसी मैंने पहली बार देखी थी। अशोक जी इस प्रकार से हँसते देख मुझे अच्छा लगा था। उसके बाद अशोक जी अपने मित्र राजकिशोर जी के बारे में बताने लगे - 'राजकिशोर जी कोलकाता में ही रहते थे। आज उनके जैसा गद्य लिखने वाले कम ही लोग हैं। 'रविवार' पत्रिका में पहले थे, उसके बाद लगभग एक वर्ष 'परिवर्तन' का सम्पादन करते रहे। कोलकाता से 1990 में 'नवभारत टाइम्स' में चले गए। राजेन्द्र माथुर ने उनको नवभारत टाइम्स में काम करने के लिए बुलाया, यह बड़ी बात है। राजकिशोर जी कभी भी अपने मूल्यों और विचारों से समझौता नहीं करते। जब देश की राजनीति नये मोड़ पर थी ; मंडल और मंदिर के मुद्दे पूरे समाज को उद्वेलित कर रहे थे ; दिल्ली और खासकर हिन्दी प्रदेश के कुछ शहरों में आरक्षण के विरोध के कारण आग जल उठी, तो राजकिशोर जी 'कृपया यह न करें' संपादकीय लिख कर आग बुझाने का काम किया था। यह काम करते हुए उन्होंने दिल्ली में एक मौन जुलूस की अगुआई भी की।

'उनमें एक सबसे खराब आदत यह है कि वे किसी की आलोचना इस हद तक करते हैं कि उसको अपना दुश्मन बना लेते हैं। अभी वे 'नवभारत टाइम्स' में सहायक सम्पादक के पद पर काम कर रहे हैं। उनके विचार सम्पादक विद्यानिवास मिश्र से नहीं मिलते, लगता नहीं है कि वे वहाँ और ज्यादा दिनों तक टिक पाएँगे। राजकिशोर जी को लगता है टाइम्स समूह की पत्रकारिता में बाजारीकरण की आँच पक रही है, उनके लिए 'नवभारत टाइम्स' अनुकूल नहीं है। यदि नौकरी चली गयी तो राजकिशोर जी मुश्किल में पड़ जाएँगे, इसलिए उनको कल बुलाया है देखें वे मेरी बात मानते हैं कि नहीं। लगता नहीं है कि वे मेरी बात सुनेंगे। मैंने पूछा, 'क्या राजकिशोर जी आपके मित्र हैं?' 'बहुत पुराने मित्र और सहकर्मी भी।' मैंने पुनः पूछा, 'उम्र में कौन बड़े हैं?' अशोक जी से पता चला कि राजकिशोर जी का जन्म कोलकाता में ही 1947 के 2 जनवरी को हुआ था। कोलकाता विश्वविद्यालय से एम.ए. और एल.एल.बी. हैं। राजकिशोर जी ने पार्टी (समाजवादी) के आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी निभाई है। उन्हें यह लगने लगा है कि राजनैतिक सक्रियता ही देश को मौजूदा समस्याओं से बाहर निकाल सकती है। इसलिए उनकी किशन पटनायक, सुनील और सच्चिदानंद सिन्हा जैसे विचारकों से चर्चाएँ चलती रहती हैं। राजकिशोर जी अपनी प्रभावशाली लेखनी से समाज के हाशिए पर पड़े व्यक्ति, स्त्री, दलित, आदिवासी और पिछड़ों की संघर्ष, पीड़ा जैसी समस्याओं को उठाते रहते हैं। देश, समाज और दुनिया की हलचल पर उनकी पैनी नजर रहती है।

मैंने जिज्ञासावश पूछा कि वे एक ही लेख इतनी जगहों से एक ही दिन में छपना कैसे संभव होता है? तब अशोक जी ने बताया कि जब कोई स्वतंत्र लेखन करता है तो सिंडीकेट के माध्यम से ऐसा किया जा सकता है। सच्चाई तो यह है कि मैं आज भी 'सिंडीकेट' के अर्थ से पूरी तरह वाकिफ नहीं हो पाया हूँ।

राजकिशोर जी के बारे में अशोक जी जैसे सत्यनिष्ठ व्यक्ति की जुबानी इतना सुने तो सुनने वाला राजकिशोर जी को बिना पढ़े ही उनका कायल हो जाएगा। सच में मेरी हालत भी ऐसी ही हो गई थी, जो आज तक बरकरार है। अशोक जी कम ही लोगों के लेखन को अच्छा कहते थे, किंतु वह राजकिशोर जी ही थे जिनके लेखन की वे हृदय से प्रशंसा करते थे। मैं राजकिशोर जी को पहले पुस्कालय में देख चुका था। उनको देख कर मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि वे इतने बड़े लेखक हैं। एकदम साधारण पैंट और शर्ट में रहते थे। देखने में भी कोई दिव्य दर्शनीय नहीं थे, पर प्रतिभा उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। इस दिन से राजकिशोर जी एकाएक अच्छे और सुन्दर लगने लगे थे। भीतर की सुंदरता व्यक्ति की बाहरी सुंदरता की पुष्टि करती है।

दूसरे दिन राजकिशोर जी अपनी पत्नी विमला जी के साथ अशोक जी से मिलने उनके निवास 16, लॉर्ड सिन्हा रोड सुबह नौ बजे पहुँच गए थे। आते ही अशोक जी उनसे गले मिले। उन्होंने मुझसे परिचय करवाया। राजकिशोर जी परिषद के पुस्तकालय में मुझे देख ही चुके थे, सो कहने लगे, 'क्या आप परिषद छोड़ चुके हैं ?' मैंने कहा, 'नहीं, यहाँ से मैं साढ़े दस बजे पुस्तकालय चला जाता हूँ और शाम को सात बजे घर लौट आता हूँ। परिषद बिल्डिंग की छत पर रहता था वह घर छोड़ चुका हूँ। मैं अब अशोक जी के साथ रहने लगा हूँ।' मुझे अच्छी तरह याद है। उन्होंने कहा था, 'चलिए आपका भाग्य अच्छी जगह लेकर आया है, हमारे अशोक जी पारस हैं, जिनको छू देते हैं वे मणि बन जाते हैं।' उनका कहा हुआ एक-एक शब्द आज भी थाती की तरह मेरी स्मृति मंजूषा में सुरक्षित है। अशोक जी राजकिशोर जी की बात पूरी होने से पहले ही मुझसे नाश्ता ले आने के लिए कहने लगे, क्योंकि अशोक जी अपनी प्रशंसा सुनना बिलकुल पसंद नहीं करते थे। राजकिशोर जी ने नाश्ते के लिए ना कर दिया है। कहे, 'चाय ले सकता हूँ।' तुरंत ही मैं चाय बना कर ले आया। राजकिशोर जी सिगरेट का पैकेट निकाल कर अशोक जी के सामने बढ़ाते हुए उनसे लेने का आग्रह करने लगे, लेकिन अशोक जी ने मना कर दिया और

अपना ही 'चारमीनार' ब्रांड निकाल कर पीने लगे और राजकिशोर जी अपना ब्रांड 'विल्स फिल्टर'। मुझे भी अशोक जी ने वहीं बैठने का इशारा किया, ताकि मैं कुछ सीख सकूँ। उनके आदेश का पालन करता हुआ मैं वहीं बैठ गया। एक घंटे में ही मुझे लगा कि वे दोनों मित्र अपने-अपने ब्रांड के तीन-चार सिगरेट पी गए होंगे। राजकिशोर जी ने एक कप चाय और देने के लिए आग्रह किया।

छुट्टी का दिन रविवार होने के कारण मुझे भी कोई जल्दी नहीं थी अतः बिल्कुल निश्चिंत था। सो उस दिन दोनों मित्रों के बीच बातचीत का मैंने भी खूब आनन्द उठाया। कितनी तरह की बातें हुई थीं - पारिवारिक, राजनैतिक, साहित्यिक, धार्मिक और न जाने कितने-कितने विषयों पर, परन्तु यहाँ उन बातों का उल्लेख करना विस्तार में जाना होगा। अशोक जी जब भी भोजन के लिए कहते, राजकिशोर जी- कहते थोड़ी देर में ; इस तरह उस दिन नाश्ता हुआ ही नहीं। तब उनकी पत्नी विमला जी ने बताया कि सो कर देर से उठते हैं इसलिए नाश्ता नहीं लेते,दोपहर में एक बार खाना खाएँगे वही उनका नाश्ता भी होता है। उस दिन पता चला राजकिशोर जी सो कर दस-बारह बजे उठते हैं। बीच-बीच में राजकिशोर डिप्रेशन में भी चले जाते हैं। उनको डिप्रेशन की शिकायत अंतिम दिनों तक रही।

अशोक जी राजकिशोर जी से जाते समय मेरे बारे में कहने लगे, 'हमारे बालेश्वर जी लिखें, तो बहुत अच्छा लिख सकते हैं।' राजकिशोर जी तुरंत ही मुझसे मुखातिब हुए, 'बालेश्वर जी, हमारे नवभारत टाइम्स में एक कॉलम चलता है 'दूसरा पहलू', इसके लिए जरूर लिखें।' उन्होंने मुझे विषय भी सुझाया कि मैं बिहार की परिवहन-व्यवस्था पर नौ सौ शब्दों में लिखकर भेजूँ। उनके चले जाने के बाद अशोक जी ने अधिकार भरे स्वर में कहा, 'आप राजकिशोर जी के लिए जरूर लिखिए।' मैंने कहा, 'मुझे लिखना आएगा तब न।' उन्होंने मेरी हौसला अफजाई करते हुए कहा, 'लिखने के लिए बैठिएगा तो अपने आप लिखने लगिएगा।'

उस समय फोन करना महँगा पड़ता था। लोग पहुँचने की खबर पत्र के माध्यम से ही देते थे। एक सप्ताह बाद ही राजकिशोर जी का दिल्ली से एक लिफाफा अशोक जी के नाम आया। लिफाफे में एक पत्र मेरे नाम का भी था। पत्र में उन्होंने पूछा था कि 'दूसरा पहलू' कॉलम के लिए लिख कर मैं कब भेज रहा हूँ। राजकिशोर जी का तगादगी पत्र पढ़कर मैंने अपने अन्दर एक विचित्र-सी बेचैनी महसूस की और पहली बार लिखने का प्रयास करने लगा। मुझे आज भी याद है - उल्टा-सीधा बेतरतीब-सा लिखकर जब मैं उठा तो, मैं बीस-बाईस पेज लिख चुका था। उन पृष्ठों को, सकुचाते हुए जब अशोक जी के हाथों पर धरा तो वे उसी क्षण उसे पढ़ने लगे और खूब प्रशंसा करने लगे। फिर उन्होंने कहा, 'इसको छपने लायक इसी में से बनाना होगा। आज रात में खाना खाने के बाद ठीक करेंगे।'

अशोक जी ने एक नौसिखुए के लिखे हुए बीस-बाईस पृष्ठ को समेट कर पाँच-छह पेज में एक ठोस रूप दे दिया था। उन्होंने लेखन का यह गुर भी समझाया कि सब कुछ लिखने के लिए नहीं होता है, मुझे ध्यान रखना होगा कि मैं कोई उपन्यास नहीं लिख रहा हूँ। राजकिशोर जी ने ९०० शब्दों में ही लिखकर माँगा है, क्योंकि 'दूसरा पहलू' कॉलम उतने ही शब्दों का होता है। सारे शब्द मेरे ही थे, परन्तु कौन सा शब्द कहाँ लिखा जाएगा अशोक जी ने सुझाया था और सटीक क्या शब्द होने से वाक्य अच्छे बन जाएँगे यह भी बताया। मैंने उनके ठीक किए हुए लेख को फिर से कॉपी करके उनको पढ़ने के लिए दिया। पढ़कर वे बहुत प्रफुल्लित थे मानों उन्होंने मुझे कोई जंग जीता दिया हो। उसको टाइप करके राजकिशोर जी के नाम नवभारत टाइम्स के पते पर भेज दिया। मेरा उत्साह इतन बढ़ गया था कि एक सप्ताह बाद से ही पुस्तकालय में आनेवाले नवभारत टाइम्स में 'दूसरा पहलू' कॉलम को देखने लगा था। एक दिन शाम को कार्यालय से घर पहुँचा तो अशोक जी मेरे हाथ में राजकिशोर जी का लिखा पत्र देते हुए आहलादित मन से कहने लगे, 'आप तो लेखक होने जा रहे हैं, आपका लेख नवभारत टाइम्स में छप रहा है, इसमें तो अच्छे-अच्छे लेखकों का नहीं छपता है और आपने पहली बार भेजा है और वह छप रहा है।' मैंने कृतज्ञ भाव से कहा, 'आपके कारण ही छप रहा है।' अशोक जी ने कहा, 'ऐसी बात नहीं है। सही में आपने बहुत अच्छा लिखा था।' मैंने फिर भी कहा, 'इस लेख को आपने इतना अच्छा बना दिया था इसलिए राजकिशोर जी उसे छाप रहे हैं। दूसरी बात, उनसे अब मेरा परिचय भी तो हो गया है। इसका तीव्र प्रतिवाद किया अशोक जी ने, कहने लगे, 'राजकिशोर जी के बारे में इस तरह की धारणा मत बनाइए। वे लेखन के साथ कभी समझौता नहीं करते हैं। उनको यदि लेख अच्छा नहीं लगेगा तो किसी भी कीमत पर नहीं छापेंगे। वहाँ वे परिचय-वरिचय भी नहीं देखेंगे।' मैं अपनी सफलता पर मन ही मन खूब खुश हो रहा था। खैर, दो-तीन दिन के बाद ही लेख छप गया था - 'बिन अंग्रेजी सब सून'। अपना नाम अखबार में देखकर मन आह्लादित हो रहा था। कई बार अपने लिखे हुए को पढ़ा और दूसरों को भी पढ़ाया। कार्यालय से शाम को अख़बार घर भी ले आया था। रास्ते में मिठाई की दुकान पड़ती है वहाँ से रसगुल्ला ले लिया था। घर में घुसते ही अशोक जी मेरे हाथ में अख़बार थमाते हुए कहने लगे, 'अद्भुत लेख है।'

मैं अपना प्रथम प्रकाशित लेख कई दिनों तक लोगों को दिखाता-पढ़ाता रहा। जिन्होंने भी पढ़ा सभी को अच्छा लगा था। राजकिशोर जी की प्रेरणा के अरण्य में विचरण करता हुआ अब मैं एक अन्य आलेख रूपी अश्व पर आरूढ़ हो चुका था। परंतु अश्व का लगाम अभी अशोक जी के हाथों में

ही रहना था। मेरा दूसरा लेख शिक्षा व्यवस्था पर था। राजकिशोर जी जब अशोक जी को लिखते, उसमें मेरे लिए भी एक पेज होता, नहीं तो उन्हीं के पत्र में मेरे लिए भी कुछ न कुछ जरूर लिखा करते। इस प्रकार राजकिशोर जी मुझे लिखने के लिए सदैव उत्साहित करते रहते, मेरे पास तो अशोक जी थे ही। दो वर्षों में राजकिशोर जी ने नवभारत में मेरे बीस से ज्यादा ही लेख छापे थे। न सिर्फ छापे बल्कि खूब प्रशंसा भी की। दिल्ली से अशोक जी के कई मित्र-परिचित मेरे लिखे हुए लेख की चर्चा करते और पत्र लिखते - प्रयाग शुक्ल जी, गिरधर राठी जी, प्रबोध जी यानी अशोक जी के यहाँ जिनका आना-जाना था और जो मुझे भी जानते थे वे सभी लोग मेरे लेख की तारीफ में कुछ न कुछ अशोक जी के पत्र में लिखते रहते। प्रत्येक लेख के मानदेय के रूप में साढ़े छह सौ रुपए भी मिलने लगे थे। राजकिशोर जी पत्र द्वारा पूछते रहते - पारिश्रमिक समय से मिल जा रहा है कि नहीं। 1991-92 में यह राशि बहुत बड़ी होती थी। मैं बहुत खुश था और राजकिशोर जी के प्रति श्रद्धावनत भी। पारसमणि अशोक जी ने मुझ पत्थर के टुकड़े को मणि तो बनाया जरूर पर अब मणि को सम्मानित स्थान पर रखने का काम किया राजकिशोर जी ने।

राजकिशोर जी की संवेदनशीलता का एक उदाहरण आप इस बात से लगा सकते हैं - अशोक जी के देहावसान के कुछ महीनों बाद राजकिशोर जी से मेरी मुलाकात हुई थी। वे दिल्ली से भारतीय भाषा परिषद के बुलावे पर कोलकाता आए थे। परिषद की ओर से 'हिन्दी साहित्य ज्ञानकोश' अपने कई खण्डों में निकल रहा है, जिसके भाषा सम्पादक राजकिशोर जी थे। वे कहने लगे, 'बालेश्वर जी, अशोक जी के नहीं रहने के कारण आपको तो अभी बहुत परेशानी होती होगी?' मैंने कहा, 'क्या किया जा सकता है?' उन्होंने मुझसे खुद ही कहा, 'इंदौर से एक पत्रिका 'रविवार डाइजेस्ट' निकल रही है, आप हमारी पत्रिका के लिए लिखिए। हमलोग एक लेख का एक हजार रूपये देते हैं, आपको भी देंगे ताकि आपको कुछ आर्थिक मदद मिल जाए।' मैंने राजकिशोर जी का प्रस्ताव तुरंत ही स्वीकार कर लिया। बहुत अच्छा लगा उनके इस सख्य भाव को जानकर। उनके प्रति मन में अवस्थित श्रद्धा घनीभूत हुई। राजकिशोर जी मेरी परेशानियों के बारे में इस तरह सोच रहे हैं बिलकुल अपना बनकर। अभी हाल ही में इंदौर से 'रविवार डाइजेस्ट' पत्रिका निकाल रहे थे, उस मासिक पत्रिका में मैंने बारह लेख भेजे, उन्होंने बारह अंकों में छापा और लेख का पारिश्रमिक एक-एक हजार रुपये करके मेरे बैंक एकाउन्ट में भिजवा दिया। आज राजकिशोर जी इस दुनिया में नहीं हैं, परन्तु उनकी याद बहुत आती है। उन्हें खोने का दुःख मन को बोझिल कर जाता है।

अशोक जी जब जीवित थे तब 16, लार्ड सिन्हा रोड साहित्यकारों का अड्डा और बासा हुआ करता था। उस अड्डा और बासा में देश के हर भाग से कोई दो-चार घंटे के लिए तो कोई एक सप्ताह के लिए तो कोई पन्द्रह दिनों के लिए आता रहता था। राजकिशोर जी जब कभी अकेला कोलकाता आते थे तो उस बासा में जरूर ही ठहरते थे। कभी-कभार अपने पूरे परिवार के साथ भी उनका ठहराव उस बासा में ही हुआ करता था। मैंने देखा है सारी-सारी रात को अशोक जी और राजकिशोर जी चर्चा-परिचर्चा में सुबह करते। बातचीत करते-करते किसी-किसी विषय पर दोनों मित्रों में मनमुटाव भी हो जाया करता। लेकिन दोनों मित्रों के बीच संवाद कभी भी बंद नहीं हुआ। इन दोनों के बीच बातचीत कई बार इतने ख़राब ढंग से भी हो जाती थी कि मुझे लगता था अब इन दोनों में कभी भी बातचीत नहीं होगी, पर घंटे भर में फिर बातचीत का सिलसिला शुरू हो जाता, सबकुछ भूलकर। जब उनके यहाँ से राजकिशोर जी विदा होने लगते तो आशिक जी उनको खूब प्रेमपूर्वक विदा करते थे। राजकिशोर जी बोलते-बोलते बहक जाते थे, लेकिन अशोक जी हमेशा मर्यादा में रहकर ही बात करते। जब राजकिशोर जी दिल्ली जाते थे तो मुझे लगता इन दोनों मित्रों में कटुता आ गयी होगी, पर ऐसा नहीं होता। यदि होता भी होगा तो दो विद्वान मित्र परस्पर पत्राचार करके सुलह कर लेते होंगे। अशोक जी में एक विशेष और अनुकरणीय गुण था कि उनकी गलती नहीं रहने पर भी वे निःसंकोच माफ़ी मांग लेते थे। प्रेमभाव से ही रहना चाहिए में उनका दृढ़ विश्वास था। वे हमेशा समझौता के पक्षधर रहे। इसलिए मुझे हमेशा-हमेशा लगता था अशोक जी जैसा कोई नहीं।

अशोक जी के जाने के बाद भी राजकिशोर जी हमेशा मेरी खोज खबर लेते रहते थे। सोचने पर लगता है कि कितने संवेदनशील थे वे। हमेशा कहते थे लिखते -पढ़ते रहिए। अब से तीन महीने पहले 22 अप्रैल को राजकिशोर जी युवा बेटे विवेक की असामयिक मृत्यु। उस समय हिम्मत नहीं हो रही थी कि उनसे बात करूँ। हिम्मत जुटाकर एक सप्ताह बाद मेरी उनसे बात हुई थी। वे बहुत दुखी थे, उन्होंने मुझे एक ही बात विवेक के बारे में कहा 'होनी को कौन टाल सकता है'। पुत्र-शोक ने उनको भीतर से तोड़ दिया था। दारुण दुःख को भुलाने के लिए राजकिशोर जी स्वयं को लिखने-पढ़ने में अधिक व्यस्त रखने लगे थे। फेसबुक पर टीका-टिप्पणी करते रहते थे। उनकी टिप्पणी पढ़ कर लगता था वे पुत्र-शोक से उबर रहे हैं। लेकिन कौन जानता था कि नियति एक और खेल खेलने वाली है। सोचा ही नहीं था कि मेरे लेखकीय जीवन के प्रेरणास्रोत राजकिशोर जी इतनी जल्दी हम सब को छोड़ कर चले जाएँगे।

●

राजकिशोर जी से मुलाकात

अतुल कुमार

राजकिशोर जी को नाम से बहुत पहले से जानता रहा हूँ। लगभग तभी से जब 1989 में सामयिक वार्ता का प्रकाशन मुजफ्फरपुर से शुरू हुआ। वहाँ उनकी चर्चा होती थी और नवभारत टाइम्स में उनके लेख छपते थे। उसी समय उनका एक लेख छपा था जिसमें साल की सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाओं में सामयिक वार्ता को भी स्थान दिया गया है।

कुछ समय बाद राजकिशोर जी नवभारत टाइम्स से अलग हो गए। इसके बाद उन्होंने 'दूसरा शनिवार' निकाला। उस समय तक मैं बीएचयू आ गया था। वहां स्टेशन के सर्वोदय बुक स्टॉल पर दूसरा शनिवार आता है और मेरे जैसे कई लोगों को उसका इंतजार रहता था। कुछ समय बाद वह भी बंद हो गई। इससे पहले ही राजकिशोर जी 'आज के प्रश्न' शृंखला की 19 पुस्तकें संपादित कर चुके थे। इनमें कई पढ़ने का मौका मिला।

राजकिशोर जी से सीधा परिचय दिल्ली आने के भी काफी दिनों बाद हुआ। इससे पहले कई कार्यक्रमों में उनके साथ रहता लेकिन कभी परिचय नहीं हुआ। 11 अगस्त 2015 में जंतर-मंतर पर शिक्षा अधिकार को लेकर सजप के धरने के दौरान हरिमोहन जी ने उनसे परिचय कराया। उसी समय राजकिशोर जी सजप के सदस्य भी बने। इसके बाद उनसे कई बार लंबी चर्चा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। विशेष रूप से 'भारतीय दर्शन' को लेकर। सजप की मीटिंग में भी खाली समय में वे किसी न किसी मुद्दे पर तात्विक बहस में उलझते-उलझाते रहते। कभी सांगठनिक विषय तो अक्सर दार्शनिक विषयों पर।

राजकिशोर जी से बहस में अपने तरह का अलग आनंद होता था। लेकिन बहस हो तब। अपने से सहमत होते मुद्दों पर उनकी रुचि खत्म हो जाती थी। आपसे वह तभी उलझते या चर्चा को आगे बढ़ाते जब आप उनसे असहमत हों। जैन दर्शन, कर्म सिद्धांत, प्राचीन भारतीय इतिहासपरक घटनाओं की मीमांसा आदि उनके पसंदीदा विषय थे। इन सिद्धांतों की सारगर्भित और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आलोचना वे खुद भी करते और सामनेवाले को भी इसके लिए हमेशा प्रेरित करते रहते।

इस समय राजकिशोर जी रविवार डाइजेस्ट के संपादक हो गए। दो-तीन बार की मुलाकात में ही उन्होंने मुझे इस तरह के विषयों पर रविवार के लिए लिखने के लिए प्रेरित करना शुरू कर दिया। कई बार फोन कर लिखने को उकसाते, जबर्दस्ती करते। लेख का थीम क्या रहे, यह मेरी समझ में नहीं आया तो उन्होंने सोच कर इसे बताया कि अमुक लाइन पर लिखिए। आखिर मैंने रविवार में एक लेख लिखा। लेख उन्हें इतना पसंद आया कि उन्होंने हर महीने लिखने को कहा। हर बार विषय भी बताते और उसपर चर्चा भी करते। चार-पाँच लेख मैंने उन्हें दिया और उसे बड़े चाव से उन्होंने प्रकाशित किया। लेख का मानदेय मुझे मिला या नहीं, यह दो तीन महीने बाद जरूर पूछकर आश्वस्त हो लेते थे।

इसके बाद एक दिन अचानक उनका फोन आया कि रविवार फिलहाल कुछ दिनों के लिए बंद हो गया है और उसके मालिक उसे दोबारा नए कलेवर में निकालेंगे। तब मैने भी लिखना छोड़ दिया।

राजकिशोर जी से परिचय बहुत लंबा नहीं रहा। लेकिन जितने समय का रहा काफी उत्साहवर्द्धक और सृजनात्मक रहा। अचानक उनके एकलौते पुत्र के निधन की खबर मिली। दो दिन बाद उनके घर गया तो वे निर्विकार भाव से बैठे सिगरेट पीते मिले। ठीक उसी तरह जैसे सामान्य दिनों में उनके घर जाने पर वे मिलते थे। दो चार वाक्य शोक संवेदना का व्यक्त करने के बाद ही वे फिर अपने पुराने मूड में आ गये और जाति व्यवस्था के ढाँचे और उसके विभिन्न आयामों पर चर्चा में तल्लीन हो गए। लंबी चर्चा के बाद उनसे विदा लिया तो यह आभास ही नहीं हुआ कि मैं उनके पुत्र के निधन पर शोक संवेदना व्यक्त करने आया था।

लगभग डेढ महीने बाद ही एक दिन पता चला कि राजकिशोर जी एम्स में भर्ती हैं। मिलने गया। उनकी श्रीमती जी और पुत्री एम्स के सातवें तले पर बाहर बैठी थीं। पता चला कि एक दिन के ही बुखार के बाद फेफड़े में सेप्टिक की शिकायत आ गई और वे कोमा में चले गए। तत्काल उन्हें नजदीक के अस्पताल में जे जाया गया जहाँ से एक दिन बाद ही एम्स में रेफर कर दिया गया। 21 दिनों तक कोमा में रहने के बाद राजकिशोर जी हम सबसे विदा हो गए। तब इस बात का अहसास हुआ कि बेटे के मौत का शोक वे खुद व खुद मना रहे थे। किसी दूसरे को इसमें शामिल करना नहीं चाहते थे। तभी तो संवेदना व्यक्त करने जाने पर इस विषय को छोड़ दुनिया संसार पर चर्चा करने लगे।

सपनों और मूल्यों को जीने की सतत जिद का नाम राजकिशोर

सिद्धार्थ

राजकिशोर जी ने 'आत्मकथा' शीर्षक कविता में लिखा है कि- 'जो लोग मेरी अस्थि उठाएंगे/मेरे बारे में/एक दूसरे से क्या बताएंगे ?'- मेरे मित्र शिक्षक आप की अर्थी उठाने वालों में मैं भी था। आप बहुत कुछ ऐसा कर गए, जी गए हैं, मुझे और दुनिया को दे गए हैं, जिसे मैं गर्व के साथ दुनिया से साझा कर सकता हूं, जो दुनिया को और अपने इस मुल्क को खूबसूरत बनाने के लिए बहुत जूरूरी है। मैंने राजकिशोर जी को जैसा समझा, जैसा पाया, जैसा देखा और जैसा महसूस किया, उसका कुछ अंश साझा करना चाहता हूं। बात उनकी कविता की कुछ पंक्तियों से ही शुरू करता हूँ- 'पानी तो समझना ही मत/ जिसकी अपनी /कोई सतह न हो।'

राजकिशोर जी कविता की ये चंद पंक्तियां उनके व्यक्तित्व के मूल तत्व को सामने लाती हैं। वे एक ऐसे व्यक्तित्व थे, जिनकी अपनी जमीन थी और जमीन पर खड़े रहने की सतत जिद। पिछले चार वर्षों से राजकिशोर जी से मेरा एक सघन, आवेगपूर्ण और वैचारिक उर्जा से भरा नाता रहा है। इस नाते की जमीन व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों थी। व्यक्तिगत कम सामाजिक अधिक थी। पहले मैं सामाजिक नाते को साझा करना चाहता हूँ, जो हम दोनों को जोड़ती थी। इन चार वर्षों में मैंने उन्हें एक ऐसे व्यक्तित्व के रूप में पाया, जिसकी चिन्ता का मुख्य सरोकार यह था कि कैसे एक खूबसूरत भारत का निर्माण किया जाये, कैसे पूरी दुनिया को न्यायपूर्ण और सुखद बनाया जाये, कैसे एक ऐसा भारत, एक ऐसी दुनिया रची जाये, जहाँ किसी इंसान को अभाव का सामना न करना पड़े, किसी अपमान से न गुजरना पड़े। लिखने, पढ़ने और बतियाने में उनका यह सपना झलकता था। कभी-कभी वे भारत के भविष्य को लेकर गहरे स्तर पर नाउम्मीदी से भर जाते और कह उठते थे, सिद्धार्थ जी इस देश का कुछ नहीं होगा। यहाँ लोग रीढ़विहीन हैं। अपनी इस भावना को उन्होंने 'शांति' शीर्षक कविता में इस प्रकार प्रकट किया है- 'मैं अचरज में डूब जाता हूँ/इतना अन्याय ऐसा दमन/इतना अभाव ऐसी विषमता/फिर भी कैसी शांति/कितना सन्नाटा।' वे वर्षों आशा-निराशा के बीच हिचकोले खाते रहे। मैंने उनको जितना जाना, उनकी यह आशा-निराशा व्यक्तिगत कम सामाजिक अधिक थी। जब मानव जाति के इतिहास और व्यापक जन की ताकत पर निगाह डालते थे, तो उम्मीद से भर उठते थे, कई बार चहक उठते थे और कहते कि मानवीय सभ्यता बर्बर युग से यहाँ तक आई है। अपनी इस भावना को उन्होंने 'दुनिया' शीर्षक कविता में इस प्रकार प्रकट किया है- 'फिर भी दोस्तों/हलफ उठा कर कहता हूँ/यह दुनिया सुंदर है/उससे भी कहीं ज्यादा सुंदर/जितनी यह कभी रही होगी।' न्याय और बराबरी उनके सबसे प्रिय शब्द थे। वे उन लोगों में थे, जो इस बात को घृणा की हद तक नापसंद करते थे कि कोई इस स्थिति में हो कि दूसरे पर दया करे और कोई इस स्थिति में हो किसी दूसरे की दया पर जीए। वे करुणा या सद्भावना की जगह न्याय और बराबरी का सपना देखते। उन्होंने लिखा- 'अपनी करुणा/ अपने पास रखो/देना ही चाहते हो/तो न्याय दो। अपने ही पास रखो/अपनी सद्भावना/ दर्द बहुत है/तो बराबरी दो। मैंने कब कहा/तुम्हारी कृपा चाहिए/दे सको/तो थोड़ी-सी इज्जत दो।' सबके लिए बराबरी और न्याय से कम उन्हें कुछ भी नहीं स्वीकार था।

न्याय और बराबरी पर आधारित दुनिया के लिए राजकिशोर जी जाति और पूँजी की सत्ता को चनौती देते रहे। इधर वे बार-बार यह कहते थे कि जाति के विनाश के बिना भारत में न्याय और समता की पहली सीढ़ी ही पार करना मुश्किल है, क्योंकि जाति का आधार ही असमानता और अन्याय पर टिका है और भारतीय इससे ग्रस्त हैं जिसके शिकार भारतीय मुसलमान और ईसाई तक हैं। जाति का विनाश किताब का अनुवाद अपने हाथ में लेने के संदर्भ में वे कहते थे, 'मैं डॉ. आंबेडकर के इस कथन से पूरी तरह समहत हूँ कि हिंदू भारत के बीमार लोग हैं और इस बीमारी का कारण जाति में उनका विश्वास है।' डॉ. आंबेडकर ने एनिहिलेशन ऑफ कास्ट की पहले संस्करण की भूमिका में लिखा है 'अगर मैं हिंदुओं को महसूस करा पाता हूँ कि वे भारत के बीमार लोग हैं, और उनकी बीमारी अन्य भारतीयों के स्वास्थ्य और खुशी के लिए खतरे पैदा कर रही है, तो मेरी संतुष्टि के लिए इतना

काफी है।' आज के प्रश्न श्रृंखला में हरिजन से दलित तक की यात्रा करते हुए राजकिशोर जी जाति के विनाश तक आए। उनकी अंतिम कृति डॉ. आंबेडकर की किताब एनिहिलेश ऑफ कास्ट का हिंदी अनुवाद है। उन्होंने इस किताब की प्रस्तावना में लिखा है, 'डॉ. बी. आर. आंबेडकर की कृतियों में एनिहिलेशन ऑफ कास्ट का विशेष स्थान है। वस्तुतः जाति व्यवस्था से संघर्ष करने वालों के हाथ में यह एक दुर्दम्य औजार है'। 'गांधी मेरे भीतर' जैसी किताब लिखने वाले राजकिशोर जी वर्ण-जाति के प्रश्न पर हुई बहस में पूरी तरह डॉ. आंबेडकर के साथ खड़े होते हैं। जाति के विनाश किताब की प्रस्तावना में लिखते हैं 'इसमें (आंबेडकर का गांधी को जवाब) सिद्ध किया गया था कि गांधी जी के विचार कितने पोंगापंथी और तर्क-विरुद्ध हैं।'

अंतिम वर्षों में वे वर्ण-जाति की व्यवस्था और मानसिकता को तोड़ने की कोशिश में लगे रहे, और ज्यादातर लेखन इन्हीं विषयों के इर्द-गिर्द किया। डॉ. आंबेडकर विचार कोश तैयार किया। शंबूक की आत्मकथा लिखने को वे व्यग्र थे। उन्होंने मुझसे कहा कि वाल्मीकि रामायण ला कर मुझे दीजिए। मैं शंबूक की आत्मकथा लिखना चाहता हूँ। जब वे एम्म में थे, तो मुझसे बोले ज्योंही यहाँ से घर जाऊँगा, सबसे पहले शंबूक की आत्मकथा लिखूंगा। यह ऊर्जा और प्रेरणा उन्हें एकलव्य की आत्मकथा लिखने से मिली थी। उन्होंने फॉरवर्ड प्रेस के लिए यह आत्मकथा लिखी थी जिसे पाठकों ने काफी पसंद किया था। इस आत्मकथा में एकलव्य द्रोणाचार्य को संबोधित करते हुए कहता है 'द्रोणाचार्य, तुम हमारा अंग भंग कर सकते हो, हमें विकलांग बना सकते हो, अपने शिष्यों से कह कर हमारे प्राण भी ले सकते हो – पर हमारे दिमाग तक, हमारे मन तक तुम्हारी पहुँच नहीं हो सकती। वहाँ हम सजीव हैं, तो हर जगह हम सजीव हैं।' मत्यु के कुछ ही महीने पहले उन्होंने 'आज भी दलित और ओबीसी विरोधी हैं उनकी राम कहानी' शीर्षक अपने एक लेख में उन्होंने लिखा 'असल में, सारा मामला जाति के जहर का है, जिसने भाजपा के साम्राज्यवादी विस्तार में नया जन्म लिया है। गैर कांग्रेसवादी राजनीति ने इस साँप को छेड़ा जरूर, पर वह इसे कुचल नहीं पायी। वही सवर्ण चित्त कांग्रेस और गैरकांग्रेसवाद, दोनों की राजनैतिक विफलताओं के बाद भाजपा के अहंकारी नेताओं के मुँह से फुफकार रहा है। इसलिए वैकल्पिक राजनीति की अगली लड़ाई सामाजिक विषमता और जात-पांत के विरुद्ध होनी चाहिए, जो अगर नहीं हो पाया तो कई हजार साल से सत्ता और समृद्धि पर एकाधिकार जमाए समूह दूसरी नयी-नयी बुराइयों के साथ भारत को पूरी तरह से तबाह कर देंगे – भारत, जो अब भी संभावना है।' पिछले दिनों जब राजीव गांधी की जनेऊ के साथ एक तस्वीर जारी कर उन्हें सवर्ण हिंदू के रूप में प्रस्तुत किया गया था। इस कृत्य पर तीखी प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए राजकिशोर जी ने लिखा 'जनेऊ एक अश्लील धागा'। इस पर तीखी प्रतिक्रियाएं आईं। जनेऊ क्यों अश्लील धागा है, जिसका तर्क इन शब्दों में उन्होंने प्रकट किया- 'अश्लील का अर्थ सिर्फ वह नहीं है जो यौनिक रूप से श्लील नहीं है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। द्विज जातियों के लोग जो जनेऊ पहनते हैं, वह उनके लिए रोज का गहना है, इसलिए यह ज्यादा अश्लील है। जो भी आदमी जनेऊ पहनता है, वह प्रत्येक दिन चौबीसों घंटे यह घोषित करता है कि हम दूसरों से श्रेष्ठ हैं, इसलिए हमारा विशेष आदर होना चाहिए। जिन्हें जनेऊ धारण करने का अधिकार नहीं है, वे समाज के हीनतर सदस्य हैं। इस तरह जनेऊ समाज को दो वर्गों में बाँट देने का धार्मिक औजार है और हर तरह से अश्लील है। विषमता के किसी भी प्रतीक को अस्तित्व में बने रहने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है।'

राजकिशोर ने अपनी वैचारिक यात्रा लोहिया के विचारों के साथ शुरू की थी। वे लोहिया के इस प्रसिद्ध वाक्य को कभी नहीं भूले कि 'भारतीय आदमी का दिमाग जाति और योनि के कटघरे में कैद है'। वर्ण-जाति आधारित अन्याय और असमानता के साथ लैंगिक अन्याय और असमानता हमेशा उनके चिन्तन और लेखन का विषय रहा। उनकी अंतिम संपादित किताब (अप्रकाशित) ' स्त्री क्या चाहती है?' शीर्षक से है। इस किताब को उन्होंने बड़े मनोयोग से तैयार किया। इसमें विभिन्न महिलाओं के लेख हैं, जिनमें से कई सारे लेख रविवार (डाइजेस्ट) में प्रकाशित हुइ थे, जब वे इस पत्रिका का सम्पादन कर रहे थे। सार्वजनिक जीवन में महिलाओं की अनुपस्थिति उन्हें किस कदर खलती इसकी अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी एक कविता में इस तरह किया— 'जिस सभा में/एक भी स्त्री न हो/वह सभा अलोकतांत्रिक है।'डॉ. आंबेडकर की किताब एनिहिलेशन ऑफ कास्ट के हिंदी अनुवाद में उन्होंने डॉ. आंबेडकर का एक अन्य शोध-पत्र 'भारत में जातियाँ : तंत्र, उत्पत्ति और विकास' को समाहित किया। इसका एक कारण यह भी था कि इस शोध-पत्र में उन्होंने तर्कों-तथ्यों के साथ यह प्रमाणित किया है कि जाति से मुक्ति का प्रश्न स्त्री की मुक्ति से जुड़ा हुआ है, क्योंकि सजातीय विवाह ही जाति का प्राण है। डॉ. आंबेडकर की इस चिन्तन प्रक्रिया से राजकिशोर जी पूरी तरह सहमत थे। वे स्त्री-पुरुष संबंधों के मामले में बार-बार लोहिया के इस कथन को दोहराते थे कि प्रेम और वफादारी यदि मौजूद हों तो स्त्री-पुरुष

के सभी संबंध नैतिक और जायज हैं।''

राजकिशोर जी को इसका गहरा अहसास था कि खूबसूरत देश-दुनिया रचने के लिए विचारों, आदर्शों और मूल्यों की जरूरत होती है। मूल्य केवल लेखन या व्याख्यान के विषय नहीं होते, उन्हें जीना पड़ता है और मूल्यों को जीने के लिए बहुत कुछ खोना पड़ता है। बिना कुछ खोए, बिना कुछ गँवाए मध्यमर्गीय व्यक्ति दुनिया को खूबसूरत बनाने में अपना योगदान नहीं दे सकता। जिन चार व्यक्तियों का उनके ऊपर गहरा असर था, उनके जीवन से उन्हें यह प्रेरणा मिलती थी। बार-बार वे इसका जिक्र करते थे। ये चार व्यक्तित्व- लोहिया, गांधी, आंबेडकर और मार्क्स थे। अपने मूल्यों को जीने की प्रक्रिया में राजकिशोर जी अकेले भी होते गए। बाद के कई वर्षों से उस दिल्ली में वास करने लगे थे, जहाँ अवसरवाद ही बुद्धिजीवियों के बड़े हिस्से का मूल्य बन गया है। राजकिशोर ने इस सच की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की थी— 'सारे सिद्धांत थे, मेरे लिए/मैं किसी सिद्धांत के लिए नहीं था।' हजार कमजोरियाँ रही हो उनमें लेकिन वे अवसरवाद ही सबसे बड़ा मूल्य है, यह स्वीकार नहीं कर पाये थे, जिसके चलते बहुत सारे लोग उनसे कटते गए। अपने इस अकेलेपन को उनके ही शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है- 'सभ्यता के सारे तीर/ छाती पर सहता हूँ/शहर के बीचोंबीच/आदिवासी सा रहता हूँ।'

राजकिशोर जी ने न्याय और समता के लिए होने वाले युद्ध में अपनी भूमिका लेखक की चुनी थी। इस कार्य की महत्ता का उन्हें अहसास था- 'युद्ध में सिर्फ सैनिक नहीं होते/उनका मनोबल बढ़ाने/और उनकी गाथा लिखने के लिए/ गायक और इतिहासकार भी होते हैं।'लेकिन बार-बार उन्हें यह अपराध बोध भी होता था कि जब जमीन पर सीधे संघर्ष की जरूरत हो, तभी लेखन बना रहना चाहिए। उनका यह द्वन्द्व पिछले दिनों बहुत तेज हो गया था। वे यहाँ तक कहने लगे थे कि जब मैदान में उतर कर सीधे संघर्ष की जरूरत हो तो क्या तभी लेखक ही बने रहना चाहिए। उन्होंने अपनी एक कविता में लिखा भी था कि - 'जब संघर्ष की जरूरत हो/कविता लिखना अपराध है।' वे एक चिन्तनशील प्राणी थे। किसी जड़ विचार सारणी में बंधे व्यक्तित्व नहीं थे। उचित-अनुचित, सही-गलत और नैतिक-अनैतिक का द्वन्द्व उनके भीतर चलता रहता था। किसी विचार और विचारक को भी धर्मग्रंथ या देवता का स्थान कभी नहीं दिया । जिसने ईश्वर को चुनौती दिया हो, उसके अस्तित्व को अस्वीकार किया हो, धर्मग्रंथों की धज्जियां उडाई हों, वह भला क्यों किसी अन्य को अपना ईश्वर बनाए, क्यों उसके विचारों को धर्मग्रंथ जैसा पवित्र माने। वे चाहे गांधी हों, लोहिया हों, आंबेडकर हों या मार्क्स। हां तथ्य, सच और जन के प्रति निष्ठा से वे बंधे थे। उन्होंने कभी अपने को पूर्ण नहीं माना, अपनी ही सोच को सौ प्रतिशत सही नहीं माना। जब खुद को गलत पाया, सुधार लिया और आगे बढ़ गए। उन्होंने अपने इस मनोभाव को 'तसल्ली' शीर्षक कविता में इस प्रकार प्रकट किया है- 'यह गर्व तो कभी नहीं किया/कि मुझे साफ दिखता है/यह तसल्ली जरूर है/कि जैसा दिखा/उसे वैसा ही बताने की कोशिश की।' बदलाव की जिन शक्तियों पर राजकिशोर जी को सबसे अधिक भरोसा था वे थे-लोहिया के अनुयायी समाजवादी और मार्क्स की अनुयायी वामपंथी पार्टियां। दोनों से वे गहरे तौर पर निराश होते गए। उन्होंने समाजवादियों के बारे में लिखा- 'लोहिया की मौत के साथ ही/बुझ गए हमारे समाजवादी/ जैसे बिजलीघर बैठ जाने पर/बुझ जाते हैं,लट्टू और ट्यूब।' वामपंथियों से भी वे कम निराश नहीं थे। उनके बारे में उन्होंने लिखा- 'मार्क्स और लेनिन की/शिक्षाएं भूल गए/सत्ता की फांसी पर/खुशी-खुशी झूल गए।' कांग्रेसियों से तो उन्होंने कभी कोई उम्मीद पाली ही नहीं थी। संघियों-भाजाइयों से कुछ उम्मीद करते यह सवाल ही नहीं पैदा होता। जिनसे उम्मीद थी, उनका विश्वव्यापी पतन उनके भीतर की गहरी निराशा का कारण था। आसपास के मध्यवर्गीय अवसरवाद की बाढ़ ने इसे और गहरा किया था। उनका लेखन गहरी सघन संवेदना और वैचारिकता से भरा होता, लेकिन वे सबसे ज्यादा जोर साफ-साफ दो-टूक लिखने पर देते थे। भाषा का इस्तेमाल वे सच को छिपाने के लिए नहीं करते थे, बल्कि सच को उजागर करने के लिए करते थे। लेखन की भाषा कैसी होनी चाहिए, इसके बारे में उनकी स्पष्ट राय थी- 'वाक्य लिखो/तो पारदर्शी /धुंधला वाक्य/ दूसरों के साथ छल है।' वे भाषा से छल की कोशिश से बचते रहे।

राजकिशोर जी जिन मूल्यों-आदर्शों को आजीवन जीने की कोशिश करत रहे, वह उनके परिवार का भी मूल्य बन गया था। ऐसा तभी होता है, जब व्यक्ति मूल्यों की सिर्फ बात न करता हो, बल्कि उसे जीने की भरभूर कोशिश भी करता हो। इस पूरे संदर्भ में उनकी अंतिम विदाई के उस क्षण को याद करूं, जब उनका परिवार, उनकी जीवन-संगिनी विमला जी और उनकी बेटी अस्मिता राज उनके जीवन मूल्यों की रक्षा के लिए दृढ़ता से खड़ी रहीं। उनकी पत्नी विमला जी ने मुझे बुला कर कहा कि सिद्धार्थ, उन लोगों को बता दीजिये कि हमें उनकी अस्थि का कोई अवशेष नहीं ले जाना है। किसी गंगा में विसर्जित नहीं करना है। यह उनकी भावना के खिलाफ होगा। अगर किसी और को ले जाना है, तो ले जाए। या उस बात को

जब किसी ने सुझाव दिया कि किसी ब्राह्मण को बुला लिया जाये, तो रोती-बिलखती विमला जी और उनकी बेटी अस्मिता एक स्वर से बोल पड़ीं – न! न!! कोई ब्राह्मण, कोई पुरोहित नहीं बुलाया जाएगा। विमला जी बोलीं कि यह उनका अपमान होगा। अस्मिता का कहना था कि पापा जीवन भर जिन मूल्यों के खिलाफ थे, वे सब उनके नहीं रहने पर भी उसी तरह ही माने जाएंगे। जब हम राजकिशोर जी को अंतिम विदाई देकर घर पहुंचे, तो कुछ पारिवारिक सदस्यों ने जोर देना शुरू किया कि ब्रह्मभोज होना चाहिए। तो राजकिशोर जी की बेटी ने दृढ़ता से कहा कि यह सब कुछ भी नहीं होगा। इन सब चीजों पर न पापा विश्वास करते थे, न हम लोग करते हैं। विवेक की मृत्यु के बाद भी पापा ने यह सब नहीं होने दिया था।

मेरे लिए सबसे मार्मिक और भावविभोर कर देने वाला क्षण वह था, जब विमला जी राजकिशोर जी की प्रिय चीजें उनके पार्थिव शरीर के साथ रखने को कह रही थीं। उन्होंने सबसे पहले मुझसे उनकी कुछ प्रिय किताबें रखने को कहा। मैं किताबें ढूंढने लगा। मैं उस समय अवाक् भी रह गया और भावविभोर भी हो गया, जब उन्होंने सबकी उपस्थिति में ज़ोर से कहा कि सिद्धार्थ जी आंबेडकर वाली किताब रखना मत भूलियेगा, जाति का ज़हर किताब भी जरूर रखियेगा। इन्हीं किताबों के साथ उनकी कलम, उनका चश्मा, उनका सिगरेट का डिब्बा और उनका प्रिय बिस्कुट भी उन्होंने रखवाया।

इस महा विपत्ति की घड़ी में विमला जी और अस्मिता की राजकिशोर जी के मूल्यों, चाहतों आदर्शों और सपनों के प्रति यह प्रतिबद्धता किसी के लिए एक बड़ी प्रेरणा का स्रोत है। याद रहे विमला जी ने 4 जून को अपना जीवन-साथी खोया। इसके पहले 22 अप्रैल को वह अपने 40 वर्षीय इकलौते पुत्र विवेक को भी अचानक खो चुकी हैं। राजकिशोर जी के पार्थिव शरीर के साथ रखने के लिए मुझे पांच या छः किताबें चुननी थीं। इन पिछले चार वर्षों में मेरा नाता उनसे इतना गहरा हो गया था कि मैं उनकी पसंद-नापसंद को अच्छी तरह जानने-समझने लगा था। उनके द्वारा लिखित और संपादित किताबों में कुछ किताबें उन्हें बहुत पसंद थीं। राजकिशोर जी को अपनी कृति 'सुनंदा की डायरी' (उपन्यास) बहुत पसंद थी। अपनी कृति 'अहिंदू के घोषणा-पत्र' से उनका गहरा लगाव था। अपनी संपादित कृतियों में ' हरिजन से दलित', 'मुसलमान : मिथक और यथार्थ' और 'स्त्री-प्रश्न' को वे बहुत अहमियत देते थे। हाल ही में उन्होंने 'डॉ. आंबेडकर विचार-कोश' का संपादन किया था। जब यह किताब इस विश्व पुस्तक मेले में आई, तो उन्होंने इसे मुझे भेंट किया और कहा कि यह आंबडेकर के विचारों के प्रचार के लिए उनका एक छोटा सा प्रयास है।

अब मैं राजकिशोर जी के साथ अपने अंतिम समय की निजी पछतावों, स्मृतियों और वादों को साझा करना चाहता हूं। इस पूरे प्रसंग में मुझे एक दुःख सालता रहेगा कि उनके जीते-जी डॉ. आंबेडकर की किताब 'जाति का विनाश' प्रकाशित नहीं हो पाई। यह किताब उनको प्रकाशित रूप में उनके हाथों में सौंप नहीं पाया। मेरे और उनके सपने एक थे, इस सपने को कैसे हासिल किया जाये, इस पर बहुत सारी सहमतियों के साथ हमारे उनके बीच तीखे मतभेद भी थे। घंटों बहस होती थी। कभी वे नाराज हो जाते, तो कभी मैं। कभी मैं उनको मना लेता, कभी वे मुझको। मैं गांधी से नापसंदगी की हद तक असहमति रखता हूं, गांधी उनके अत्यन्त प्रिय व्यक्तित्व थे। गांधी को लेकर हमारे बीच कटुता भी पैदा हो जाती थी। वे लोहिया को भी संपूर्णता में स्वीकार करने का आग्रह करते थे, जबकि मैं लोहिया के राम-कृष्ण के प्रति गहरे अनुराग को किसी भी कीमत पर स्वीकार करने को तैयार नहीं था। हां, बाद के दिनों मेंडॉ. आंबेडकर को लेकर हमारे उनके बीच काफी हद तक सहमति कायम हो गई थी।

लोहिया की इस बात से हम दोनों पूरी तरह सहमत थे कि भारतीय आदमी का दिमाग़ जाति और योनि के कटघरे में क़ैद है। राजकिशोर जी का मानस लोकतांत्रिक था, जो हिंदी भाषा-भाषी समाज में कम मिलता है। हो सकता है कि इसकी जड़ें कोलकाता (पश्चिम बंगाल) में रही हो , जहां वे पले-बढ़े। वहीं उनकी किशोरावस्था और युवावस्था गुजरी। वे असहमति को पूरी जगह देते थे। वे असहमति को प्रतिरोध का एक हथियार कहते। कहने को तो ऐसा बहुत लोग कहते हैं। लेकिन, उनके साथ खास बात यह थी कि वे कड़ी से कड़ी असहमति को भी सुनते थे। उस पर विचार करते थे और यदि उन्हें कोई बात भा गई, तो फोन करके बताते थे कि हां, आप ठीक कह रहे थे। किसी से बात या विमर्श करते समय वे सामने वाले की उम्र, औपचारिक शिक्षा, पद या प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा से कुछ भी नहीं तय करते थे। वे ज्ञान या प्रतिष्ठा के अंहकार से काफी हद तक मुक्त व्यक्तित्व के धनी थे।

देश और दुनिया की चिन्ता ही अंतिम समय तक उनके जीवन का केंद्र बनी रही। 15 मई की सुबह वे गंभीर स्थिति में कैलाश अस्पताल में भर्ती हुए। उसके एक दिन पहले 14 मई की शाम को वे मुझसे करीब 2 घंटे तक बहस करते रहे। उन्होंने फोन करके मुझे बुलाया था कि आइये जरूरी बात करनी है। बात क्या थी? उनका कहना था कि केवल लिखने-बोलने से कुछ नहीं होगा। मैदान में उतरना होगा। जनता के बीच जाना होगा, लेकिन उसके पहले एजेंडा तैयार करना

पड़ेगा। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं तो पूरी तरह जनता के बीच जाने को तैयार हूं, क्या आप तैयार हैं? मुझे चुप देखकर उन्होंने कहा कि लग रहा है आप जनता के बीच जाने को तैयार नहीं हैं। उनका कहना था कि आज़ादी के बाद देश सबसे गंभीर संकट की स्थिति में है। जो कुछ भी 70 वर्ष की उपलब्धियां हैं, वे दांव पर लगी हुई हैं। ऐसे में हमें जनता के बीच जाना चाहिए, सकारात्मक एजेंडे के साथ, क्योंकि जो राजनीतिक पार्टियां संघ-भाजपा-मोदी का विरोध कर रही हैं, उनके पास जनता के लिए कोई सकारात्मक एजेंडा नहीं है। उनका एजेंडा नकारात्मक है, मोदी विरोध।

जब मैं उनसे एम्स में मिलने गया, जो उनके होश में रहते अंतिम मुलाकात थी। मैंने उनको जूस पिलाकर, खिचड़ी खिला ही रहा था कि उन्होंने कहना शुरू किया कि मैं ठीक होते ही सबसे पहले शंबूक की आत्मकथा लिखूँगा। थोड़े ही दिन पहले उन्होंने फारवर्ड प्रेस के लिए एकलव्य की आत्मकथा लिखी थी। बार-बार पूछते रहते थे कि एकलव्य की आत्मकथा लोगों को कैसी लग रही है। उनका अंतिम प्रश्न यह था कि 'जाति का विनाश' किताब कहां तक पहुंची है? कब तक प्रकाशित हो जाएगी? अंतिम रूप देने से पहले मुझे एक बार दिखाइएगा ज़रूर। उन्होंने उस दिन भी कहा कि सिद्धार्थ जी यह किताब पढ़े-लिखे हर व्यक्ति तक पहुंचनी चाहिए। मैंने उन्हें आश्वस्त किया कि मैं इस किताब की 5 लाख प्रतियां कुछ वर्षों के भीतर हिंदी भाषा-भाषी समाज तक पहुंचाऊंगा। मैं इसे अपने जीवनका एक मिशन बनाऊंगा।

मैंने अपने मित्र-शिक्षक राजकिशोर जी से दो वादे किए हैं, पहला 'जाति का विनाश' किताब को हिंदी भाषी-समाज के घर-घर तक पहुंचाना और 'स्त्री क्या चाहती है?' उनके द्वारा तैयार पांडुलिपी को प्रकाशित कराना। पहली किताब उनके 'जाति का विनाश' के सपने और सामाजिक समता से जुड़ी हुई है और दूसरी किताब पितृसत्ता के खात्मे और स्त्री-पुरूष के बीच के समता से जुड़ी है। आंबेडकर और लोहिया के एक सच्चे अनुयायी के ये सपने थे।

आंबेडकर और उनकी किताब 'जाति का विनाश' किस क़दर उनके भीतर रच-बस गई थी कि उनका परिवार भी इससे बखूबी परिचित हो गया था। यह अकारण नहीं है कि उनकी जीवन-संगिनी उस दुःख और विपत्ति की घड़ी में भी यह कहती हैं कि सिद्धार्थ जी, आंबेडकर वाली किताब उनके साथ जरूर रखियेगा।

राजकिशोर जी आप बहुत कुछ ऐसा मुझे दे कर गये हैं, जिसे मैं सहेज कर रखूंगा और आप से किए दोनों वादों को पूरा करूंगा।

अलविदा! मेरे मित्र-शिक्षक, अलविदा!!

संपादक (हिंदी) फॉरवर्ड प्रेस, 9711754989

●

स्वामीनाथन आयोग की सिफारिशें किसानों के साथ धोखा हैं

विवेकानंद माथने

कृषि फसलों को उत्पादन खर्च पर आधारित लाभकारी कीमत प्राप्त करने के लिये देशभर के किसान दशकों से संघर्ष करते आये है। वह संघर्ष आज भी जारी है। लेकिन अचानक कुछ संगठनों व्दारा कुछ सालोंसे स्वामीनाथन आयोग (राष्ट्रीय किसान आयोग)लागू करो की मांग शुरु हुई। आयोगकी सिफारिशें जिसे स्वामीनाथन स्वयं सदाबहार क्रांति कहते है, प्रथम हरित क्रांति की तरह उत्पादन केंद्रित है। प्रथम हरित क्रांति का अनुभव यह बताता है की उत्पादन वृद्धि के लिये केवल किसान ही नही पूरे समाज को बड़ी कीमत चुकानी पडी। स्वामीनाथन आयोग की सिफारिशों के अनुसार लागत पर डेढ़ गुना एमएसपी देने की सिफारिश भी एक धोखा है। इसलिये केवल जुमलों को घेरने के लिये यह मांग करना नासमझी है। खासकर तब जब पूरे देश में किसानों में आक्रोश है और वह अपने अधिकार के लिये रास्ते पर उतर रहा है।

देश में कृषि उत्पादन बढाने की चुनौती हमेशा रही है। देश में बढ़ती आबादी के खाद्यान्न पूर्ति के लिये डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन के नेतृत्व में हरित क्रांति की शुरुआत की गई। खेती की देशी विधियों के माध्यम से उत्पादन बढ़ाने का रास्ता अपनाने के बजाय उन्होंने रासायनिक खेती, संकरित बीज और यांत्रिक खेती को बढ़ावा दिया। क्रॉप पैटर्न बदलकर एक फसली पिक पद्धति को बढ़ावा देने से

जैव विविधता, फसल विविधता पर बुरा असर पड़ा। देश के बडे हिस्से में बहुफसली खेती एक फसली खेती में परिवर्तित हो गयी। किसान को अपने खेती से पोषक आहार तत्व मिलना बंद हुआ तथा पूरे देश में रासायनिक खेती के कारण कृषि भूमि की उर्वरा शक्ति घटी व भूजल स्तर में तेजी से गिरावट आने लगी तथा जमीन, पानी और खाद्यान्न जहरीले हुये। थाली में जहर पहुँचा।

हरित क्रांति से कृषि उत्पादन तो बढ़ा लेकिन किसानों पर दुतर्फा मार पड़ने से उनकी हालत तेजी से बिगड़ती गयी। बीज, खाद, कीटनाशक, यंत्र का बढ़ता इस्तेमाल, सिंचाई, बिजली आदि के लिये किसान की बाजार पर निर्भरता बढ़ने से लागत खर्च बढ़ा। फसलों का उत्पादन बढ़ने से फसलों की कीमत कम हुई। परिणामस्वरूप लागत और आय का अंतर इस तरह कम हुआ कि खेती घाटे का सौदा बनी और किसान कर्ज के जाल में फंसता चला गया। इस प्रकार प्रथम हरित क्रांति किसानों की लूट करने, थाली में जहर पहुँचाने और जैवविविधता को प्रभावित करने के लिये कारण बनी। किसानों की बर्बादी में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।हरित क्रांतिके जनक के नाते डॉ. एम.एस. स्वामीनाथन किसान की दुर्दशा के लिये सबसे अधिक जिम्मेदार माने जा सकते हैं।

प्रथम हरित क्रांति का मूल उद्देश कृषि रसायनों और तथाकथित उन्नत संकर बीजों के व्यापार को प्रोत्साहित करना था जिसके द्वारा भारत में खाद, बीज, कीटनाशक और कृषि औजारों के बाजार का विस्तार किया गया। यह कहा जाता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद बारूद बनाने वाली कंपनियों ने बारुद के घटक नायट्रोजन, पोटाश और फास्फेट का वैकल्पिक इस्तेमाल करने के लिये रासायनिक खाद का उत्पादन शुरु किया। हरित क्रांति ने उत्पादन वृद्धि के नामपर प्राकृतिक खेती करनेवाले किसान को रासायनिक खेती के झाँसे में लाकर रासायनिक खेती को पूरे देश में फैलाने का काम किया। कंपनियों ने सरकारी मदद से रासायनिक खाद, बीज, कीटनाशक, कृषि उपकरण किसानों को बेचकर उनकी लूट की।

अब दूसरीहरित क्रांति के लिये यूपीए के तत्कालीन कृषिमंत्री ने कहाँ है कि उन्होने स्वामीनाथन आयोग की 17 में से 16 सिफारिशे लागू की थी। एनडीए सरकार कह रही है कि उन्होने स्वामीनाथन आयोग की रिपोर्ट नब्बे प्रतिशत लागू की है। अर्थमंत्री ने बजट पेश करते समय कहा कि सरकार पहले से स्वामीनाथन आयोग के अनुसार लागत के डेढ़ गुना कीमत दे रही है। अब सरकार ने सी2 पर पचास प्रतिशत मिलाकर एमएसपी देने की घोषणा कर दी है। स्वामीनाथन स्वयं कहते हैं कि एनडीए सरकार उनके रिपोर्ट पर अच्छा काम कर रही है। फिर भी किसान की हालत बिगड़ती जा रही है। तब स्वामीनाथन आयोग की सिफारिशों पर सवाल उठता है।

स्वामीनाथन आयोग को खेती की आर्थिक व्यवहारता में सुधार कर किसान की न्यूनतम शुद्ध आय निर्धारण का काम सौपा गया था। तब वह किसानों की बिगड़ती हालात को सुधारने, उनके मौलिक अधिकारों की रक्षा करने के लिये बुनियादी सुझाव दे सकते थे। कृषि फसलों के शास्त्रीय पद्धति से मूल्यांकन करने और उसके आधार पर श्रम मूल्य देने या सभी कृषि उपज के दाम देने के लिये वैकल्पिक योजना सरकार को पेश कर सकते थे। लेकिन यह जानते हुये भी कि एमएसपी फसलों का उत्पादन मूल्य नहीं है उन्होने एमएसपी में उत्पादन की भारित औसत लागत से 50 प्रतिशत अधिक मूल्य देने की सिफारिश की।

स्वामीनाथन आयोग के सिफारिशों के अनुसार यह अनुमानित किया जा रहा है कि सी2 पर पचास प्रतिशत के आधार पर एमएसपी में सामान्यतः अधिकतम दो-तीन सौ रुपये तक की बढ़ोतरी हो सकती है। यह बढ़ोतरी भी तभी संभव है जब सरकार एमएसपी पर सभी फसलें खरीद करे या खुले बाजार में एमएसपी से नीचे फसल की खरीद पर निर्बंध लगाये। आज न ही सरकार के पास ऐसी व्यवस्था है न ही इसके लिये उन्होंने बजट में कोई प्रावधान किया है। स्वामीनाथन आयोग की आर्थिक सिफारिशें पूर्णतः लागू होने पर भी किसान के मासिक आय में अधिकतम 1000 रुपयों की बढोतरी संभव है। आज किसान की केवल खेती से प्राप्त मासिक आय औसतन 3000 रुपयें है। वह बढकर 4000 रुपये हो सकती है। अन्य मिलाकर कुल आय 6400 रुपये से 7400 रुपये हो सकती है। जबकि सरकार कुल आय को दोगुना करने का दावा कर रही है। वेतन आयोग के अनुसार परिवार की बुनियादी आवश्यकताओं के लिये न्यूनतम मासिक आय 21 हजार रुपये होनी चाहिये। यह स्पष्ट है कि स्वामीनाथन आयोग के आधार पर एमएसपी में थोड़ी बढोतरी से किसानों को न्याय मिलना संभव नहीं है। किसानों के साथ फिर से धोखा किया जा रहा है।

स्वामीनाथन आयोग की सिफारिशों में कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिये जी.एम. बीज, सिंचाई की व्यवस्था, फसल बीमा, कृषि ऋण का विस्तार, समूह खेती, यांत्रिक खेती, गोडाउन आदि की सिफारिश की गयी है। यह सारी

व्यवस्थाएँ किसानों को खेती से हटाकार कार्पोरेट खेती को बढ़ावा देने के लिये की जा रही हैं। सरकार इसी रास्ते चलकर किसानों को खेती से हटाना चाहती है। वह खेती पर केवल 20 प्रतिशत किसान रखना चाहती है जो पूँजी और तकनीक का इस्तेमाल कर सकें। कृषि, बीमा, बैंकिंग में एफडीआई, जी.एम.बीज, ठेके की खेती, ई-नाम, आधुनिक खेती पद्धति और इजराईल खेती, निर्यातोन्मुखी खेती आदि को बढावा देने की तैयारी इसीलिये की जा रही है। यह सदाबहार हरित क्रांति किसान को जड़ से उखाड़ने के लिये लाई गई है। नई आर्थिक नीति लागू होने के बाद विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से भारत की खेती पर कारपोरेटी कब्जा करने की शुरुवात हुई थी। स्वामीनाथन आयोग की रिपोर्ट किसान हित का नाटक कर कारपोरेट खेती की नींव को मजबूत करने का काम रही है। कारपोरेटी साजिशें किस तरह काम करती हैं इसका स्वामीनाथन आयोग की रिपोर्ट उत्तम उदाहरण है।

कारपोरेट घराने किसान को लूटकर, खेती को घाटे का सौदा बनाकर भारत की खेती पर कब्जा करना चाहते हैं। उसके लिये वह किसान आंदोलन का भी उपयोग करना चाहते हैं। स्वामीनाथन आयोग लागू करो की मांग के लिये स्वामीनाथन फाउंडेशन और इससे लाभान्वित होनेवाली कंपनियां काम कर रही हैं। वैश्विक तापमान वृद्धि से मुकाबला करने के लिये किसान-परिवहन के लिये बैलशक्ति को बढ़ावा देने और रासायनिक खेती से मुक्त नई प्राकृतिक खेती के लिये गाय बैलों की रक्षा करने की आवश्यकता है। लेकिन उसे किसानों के लिये बोझ साबित कर गोवंश हत्याबंदी कानून हटाने की कोशिश हो रही है। सिंचाई का क्षेत्र बढ़ाने के लिये नदी जोड़ योजना की मांग सरकार और कार्पोरेट द्वारा प्रायोजित है। कंपनियों को जमीन पर कब्जा करने का रास्ता खोलने के लिये किसान विरोधी कानून हटाने के नाम पर किसान का सुरक्षा कवच बने सीलिंग एक्ट हटाने की मांग की जा रही है। देश के किसानों और किसान संगठनों को अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करते हुये किसान विरोधी षड्यंत्रों से सावधान रहने की आवश्यकता है।

●

असम : नागरिकता का सवाल

एल एस हरदेनिया

इस बात की पूरी संभावना है कि भारतीय जनता पार्टी सन् 2019 का लोकसभा चुनाव ''बांग्लादेशियों को भारत से निकालो'' के नारे पर लड़ेगी। यदि ऐसा होता है तो यह देश के लिए दुर्भाग्यपूर्ण होगा। इस नारे से भाजपा मतदाताओं का ध्रुवीकरण करने में सफल होगी और बाकी सभी चुनावी मुद्दे या तो गौण हो जाएंगे या पूरी तरह से गायब हो जाएंगे। इस मुद्दे को लेकर देश भर मे अत्यधिक गैर-जिम्मेदाराना और भड़काऊ टिप्पणियां की जा रही हैं। जैसे, भाजपा के एक नेता ने कहा है कि यदि बांग्लादेशी खुशी-खुशी नहीं जाते तो उन्हें गोली मार दो। इस तरह पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी ने कहा है कि इस मुद्दे को लेकर खून की नदियां बहेंगी और गृहयुद्ध छिड़ जाएगा।

असम से बांग्लादेशियों को बाहर निकालने की मांग बहुत पुरानी है। परंतु इस मांग को आंदोलन का रूप वहां के असमी भाषी छात्रों ने दिया। यह आंदोलन इतना तीव्र था कि उसके बड़े दूरगामी परिणाम हुए। पहला, छात्रों की पार्टी असम गण परिषद से तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी को समझौता करना पड़ा। दूसरा, इसके बाद हुए विधानसभा चुनाव में असम गण परिषद को बहुमत मिला और प्रफुल्ल मोहंती मुख्यमंत्री बने। यह सरकार पूरे पांच वर्ष चली परंतु इन पांच वर्षों के दौरान एक भी बांग्लादेशी को देश से बाहर नहीं किया जा सका। इसके बाद के वर्षों में केन्द्र में अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार बनी और पूरे छःह वर्ष तक अस्तित्व में रही परंतु इस दरम्यान भी एक भी बांग्लादेशी देश के बाहर नहीं भेजा जा सका।

भले ही भाजपा अपने शासनकाल में एक भी बांग्लोदशी को देश से नहीं निकाल सकी परंतु बांग्लदेशियों के मुद्दे को उसने जिंदा रखा। भाजपा की ओर से हमेशा यह दावा किया जाता रहा कि देश के विभिन्न भागों में रहने वाले बांग्लादेशियों की संख्या चार करोड़ से ज्यादा है।

यहाँ यह स्मरण दिलाना प्रासंगिक होगा कि जब बांग्लादेश पाकिस्तान का हिस्सा था, और पूर्वी पाकिस्तान कहलाता था, उस दौरान हुए चुनावों में मुजीबुर्रहमान की अवामी लीग को बहुमत हासिल होने के बाद भी पाकिस्तान की

सरकार ने एक ओर तो अवामी लीग के हाथ में सत्ता नहीं सौंपी और दूसरी ओर पूर्वी पाकिस्तान के नागरिकों पर क्रूरतम ज्यादतियां कीं। इन ज्यादतियों से बचने के लिए भारी संख्या में बांगलादेशियों ने भारत में शरण ली। अधिकांश शरणार्थी मुसलमान थे परंतु इनमें हिन्दुओं की भी अच्छी-खासी संख्या थी।

इसी दौरान अटल बिहारी वाजपेयी, जो मोरारजी देसाई की जनता पार्टी सरकार में विदेश मंत्री थे, से मैंने एक पत्रकारवार्ता में पूछा कि बांग्लादेश के राजनीतिक शरणार्थियों के संबंध में आपका क्या नजरिया है? इस पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि बांग्लादेश के जिन हिन्दुओं ने भारत में शरण ली है वे शरणार्थी हैं और जो मुसलमान वहाँ से भारत में आए हैं वे घुसपैठिये हैं। संघ परिवार ने अपना यह रवैया कभी नहीं छोड़ा और इस मुद्दे पर असम में घृणा फैलाता रहा। यह घृणा इतनी गहरी हो गई कि सन् 1983 में नैल्ली नामक स्थान पर हुए जनसंहार में तीन हजार मुसलमान मारे गए।

बांग्लादेशी मुसलमानों के साथ ही असम के असमी भाषी मूल निवासी आम तौर पर सभी गैर-असमी भाषा भाषियों से छुटकारा पाना चाहते हैं। इस रवैये के चलते असम में अनेक बार हिन्दी भाषा भाषियों के विरूद्ध आंदोलन हुए।

असम में व्याप्त इस साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को कम करने का कोई भी सार्थक प्रयास नहीं किया गया। ऐसा कोई प्रयास असम में कांग्रेस सरकार के दौरान भी नहीं हुआ। वैसे असम में साम्प्रदायिक सौहार्द का लंबा इतिहास है परंतु उस इतिहास की जड़ों को गहरा करने का अभियान किसी ने भी नहीं छेड़ा।

इसी बीच कुछ वर्षों से वहाँ मतदातओं की सूची सुधारने का अभियान चलाया गया। इस अभियान के दौरान सभी मतदातओं की पहचान की गई और मतदाताओं को दो भागों में बांटा गया। पहले भाग में उन लोगों को रखा गया जिनकी मतदाता होने की पात्रता में कोई शंका नहीं थी और दूसरे भाग में वे मतदाता थे जिन्हें संदेहास्पद माना गया। मतदाता सूची में ऐसे मतदाताओं के नाम के आगे डी अर्थात डाउटफुल वोटर लिखा गया।

इस अभियान की वास्तविकता जानने के लिए मैं स्वयं अपने सहयोगियों के साथ असम गया। अपने असम प्रवास के दौरान मैं अनेक गांवों में गया। इस दरम्यान जो तथ्य मेरे सामने आए वे अत्यधिक चौंकाने वाले थे। उदाहरण के लिए एक ही परिवार में पति पात्र वोटर था और पत्नी डी वोटर, मां पात्र वोटर और बेटे-बेटियां डी वोटर। इस अभियान के चलते अनेक लोगों का मताधिकार छीन लिया गया और इसने असम में भारी असंतोष को जन्म दिया। जिन्हें डी वोटर घोषित किया गया था उन्हें अपना पक्ष रखने के लिए अवसर दिया गया। इस हेतु 23 ट्रिब्युनल गठित किए गए। डी वोटरों को इन ट्रिब्युनलों के सामने अपना पक्ष रखने को कहा गया। परंतु प्रवास के दौरान मैंने पाया कि अनेक ट्रिब्युनलों में जजों की नियुक्ति नहीं की गई और वे केवल कहने को ही अस्तित्व में रहे।

इस मुद्दे को लेकर हम वहां के राज्यपाल और अन्य अधिकारियों से मिले। अनेक प्रयासों के बावजूद मुख्यमंत्री से हमारी मुलाकात नहीं हो सकी। स्पष्टतः मतदाताओं की पहचान अत्यधिक लापरवाही और गैर-जिम्मैदाराना ढंग से की गई। लगभग ऐसी ही लापरवाही नेशनल रजिस्टर ऑफ सिटीजन्स (एनआरसी) बनाने में भी की गई। समाचारपत्रों में आए दिन खबरें छप रही हैं कि पिता को नागरिक माना गया पर पुत्र को नहीं, पति को नागरिक माना गया पत्नी को नहीं, तीन भाई नागरिक के रूप में मान्यता पा गए पर दो भाईयों को नागरिक नहीं माना गया आदि। यहाँ तक कि हमारे देश के पूर्व राष्ट्रपति फखरूद्दीन अली अहमतद के भतीजे को भी नागरिक नहीं माना गया।

अब आवश्यकता इस बात की है कि नागरिकों की पहचान की यह प्रक्रिया दुबारा नए सिरे से प्रारंभ की जाए। जैसा कि पहले कहा गया है, पूरी संभावना है कि सन् 2019 के चुनाव में यह एक प्रमुख मुद्दा हो जाएगा। इसलिए इस कार्य को आगामी लोकसभा चुनाव तक स्थगित रखा जाए। इसके साथ ही जिन लोगों ने इस कार्य में लापरवाही बरती है, उन्हें दंडित किया जाए।

दुनिया के सारे देशों के नेताओं को इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि ऐसे लोग कहाँ जाकर रहें जिन्हें उनका ही देश नागरिक मानने से इंकार कर दे। इस समय दुनिया मे अनेक देशों में यह समस्या उत्पन्न हो रही है। अनेक देशों के नागरिकों के विभिन्न कारणों से अपने देश से पलायन करना पड़ रहा है। सीरिया इसका जीता-जागता उदाहरण है। अमेरिका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप आए दिन दूसरे देशों के नागरिकों को अमरीका से बाहर निकालने की धमकी देते रहते हैं।

इस समस्या के हल के लिए एक ऐसा देश बनाया जाए जिसमें वे लोग बस सकें जिन्हें उनके अपने देश से निकाल दिया गया हो। इस तरह का देश संयुक्त राष्ट्र संघ बनाए और दुनिया के सभी देश इसमें सहयोग करें। जैसे यहूदियों के लिए इजराइल बना उसी तरह यह नया देश बनाया जा सकता है।

●

असम के हिंदीभाषी बांगलादेशी हैं?

रत्नेश कुमार

असम के हिंदीभाषी बांगलादेशी हैं? यदि नहीं तो उनके नाम राष्ट्रीय नागरिक पंजी (एनआरसी) मसौदे में शामिल क्यों नहीं किए गए? यह प्रश्न भारत के उच्चतम न्यायालय, प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी, केंद्रीय गृहमंत्री राजनाथ सिंह और असम के मुख्यमंत्री सर्वानंद सोनोवाल इत्यादि से हिंदी भाषी कर रहे हैं। क्या है किसी के पास कोई विधि सम्मत उत्तर? केंद्रीय कानून मंत्री रविशंकर प्रसाद के पास है कोई कानूनी जवाब? क्या इसकी जाँच कराई जाएगी कि अधिंकाश हिन्दीभाषियों के नाम राष्ट्रीय नागरिक पंजी मसौदे में शामिल नहीं किए जाने की वजह क्या है? इसके पीछे किसका और कितना राजनीतिक मस्तिष्क है? निःसंदेह इसके पीछे एक साधारण मस्तिष्क नहीं है, बल्कि एक असाधारण मस्तिष्क है। कोई भी भारतीय नागरिक इस तथ्य से वाकिफ है कि असम के हिंदीभाषी बांग्लादेशी नहीं हैं, बल्कि सौ प्रतिशत भारतीय हैं, पीढ़ियों से भारतीय हैं, उनकी भारतीय नागरिकता पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता।

हिंदीभाषियों का दुर्भाग्य है कि उनका न कोई अपना राज्य है और न कोई अपना मुख्यमंत्री। यदि उनका मुख्यमंत्री पश्चिम बंगाल का मुख्यमंत्री ममता बनर्जी की तरह दबंग होता तो उनका असम में मनुष्योचित मान-सम्मान होता। यह और बात है कि ममता बनर्जी की दबंगई के बावजूद असम में बंगालाभाषी उचित न्याय से वंचित हैं। खैर, पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी अपने राज्य से ललकारती नहीं रहतीं तो एनआरसी में असम के अधिकांश बंगलाभाषी भी हिंदीभाषी की तरह नागरिक अधिकार पाने से वंचित रह जाते, जैसा कि अधिकांश बंगलाभाषी व्यक्तिगत बातचीत के दौरान स्वीकरते हैं और एन.आर.सी में अपना नाम आने के लिए ममता बनर्जी के प्रति कृतज्ञता जाहिर करते हैं। बिहार के मुख्यमंत्री नितीश कुमार पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी की तरह दबंग मुख्यमंत्री नहीं हैं, बल्कि एक दब्बू मुख्यमंत्री हैं।उनमें इतना नैतिक साहस भी नहीं है कि वे एक सार्वजनिक बयान भर जारी कर देते कि असम में बस-रस चुके श्रमिकों के नाम एनआरसी में छूटने नहीं चाहिए। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ तो गोरखपुर से आगे सोचते ही नहीं। मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान शायद जानते हों कि उनके यहाँ के लोग असम के बन चुके हैं। जहाँ तक वसुन्धरा राजे की बात है तो वे अपने से आगे सोच नहीं पातीं। वे मान चुकी हैं कि जो राजस्थान से बाहर गया, वह सुखी-सम्पन्न है। खैर, हिंदीभाषी का एक शापित सत्य यह भी है कि अपने देश भारत में उसका कोई नेता नहीं। केंद्रीय गृह मंत्री राजनाथ सिंह में इतना साहस नहीं कि वे अपने प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के सामने बोल सकें कि हिंदीभाषियों के साथ अन्याय नहीं होना चाहिए। हिंदीभाषियों पर होते अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध किसी राजनीतिक दल के कोई नेता ने कभी कुछ नहीं कहा। वे अपने देश में एक शरणार्थी का जीवन पीढ़यों से जी रहे हैं।

भारत के गृह राज्यमंत्री किरण रिजीजू बोलते हैं कि रोहिंग्या मुसलमान शरणार्थी नहीं, घुसपैठिए हैं। उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि असम के हिंदीभाषी शरणार्थी हैं या घुसपैठिए? यही प्रश्न अपनी पीठ आप ठोक रहे भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष अमित शाह से भी किया जाना चाहिए कि उनका असम के हिंदीभाषियों पर क्या मत है? क्या वे बांग्लादेशी हैं? यदि असम में 40 लाख बांग्लादेशी हैं तो 40 लाख बांग्लादेशी कब और कैसे भारत में आ गए? जब वे लोग आए तो बीएसएफ वाले कहाँ थे? आए बांग्लादेशी जाएँगे कैसे? यदि नहीं जायेंगे तो एनआरसी कराने का औचित्य क्या है? क्या असम से हिंदीभाषियों को बाहर करने का सुनियोजित षड्यंत्र है? हर भारतीय नागरिक को भारत में न्याय पाने का संवैधानिक अधिकार है। उसे उसके संवैधानिक अधिकार से बांग्लादेशी की आड़ में वंचित नहीं किया जा सकता।

●

बाबरी से दादरी, राव से मोदी सरकार तक कंपनीवाद का असली एजेंडा

अनुराग मोदी

अमेरिका की अर्थव्यवस्था का केन्द्रीकरण हो गया है और उस पर चंद कॉर्पोरेट का कब्जा है; वहीं कम से कम आज भी भारत की अर्थव्यवस्था काफी हद तक विकेन्द्रित है, और रिटेल व्यापार और लघु और मझोले उद्योग के रूप में कुछ करोड़ व्यापारियों के हाथ में है। इसे जनता के हाथ में जाना किसी भी लोकतंत्र का पहला तकाज़ा होना लाज़िमी है, लेकिन ऐसा नहीं हुआ।और, अब तो अमेरिका की तर्ज़ पर भारत की अर्थव्यवस्था को पूरी तरह से कंपनीवाद के चुंगल में ले जाने के ब्लूप्रिंट का क्रूरतम चेहरा हमारे सामने है।जब हम बाबरी से लेकर दादरी तक की घटनाओं को बारीकी से देखेंगे तो हमें समझ आएगा, कैसे सांप्रदायिक उभार और खुली अर्थ-नीति के बीच संबंध है।और यह भी समझ पाएंगेः कट्टर हिन्दू राष्ट्रवाद संघ और भाजप का एजेंडा है, तो फिर मोदी के 2014 और 2019 के अभियान में कॉर्पोरेट हजारों करोड़ का दाव क्यों लगा रहे हैं?

अक्सर वर्तमान सरकार के मुखिया नरेन्द्र मोदी की कार्यशैलीकी तुलना जर्मनी में 1930 के दशक में शासक रहे प्रसिद्ध तानाशाह हिटलर से की जाती है,लेकिन वो मोदीजी की तानाशाही भरी कार्यशैली और सांप्रदायिकता के एजेंडे तक ही सीमित रहती है। हमें यह समझना होगाः प्रथम विश्व युद्ध के बाद आई आर्थिक मंदी से उबरने के लिए जर्मनी एवं अमेरिकी कॉर्पोरेट ताकतों ने हिटलर को सत्ता में लाने में अपनी भूमिका निभाई। हिटलर ने सत्ता में आने के बाद, जहाँ एक तरफ राष्ट्रवाद का नारा दिया, वहीं जर्मनी में सार्वजानिक क्षेत्र की अनेक कंपनियों में राज्य की हिस्सेदारी कम कर निजीकरण की नीति को तेजी से बढ़ावा दिया। उसके मिलट्रीकरण के कार्यक्रम में टैंक से लेकर जहरीली गैस और हथियार की आपूर्ति से अमेरिकी के पूंजीपति घरानों नेकाफी मुनाफा कमाया।जनरल मोटर्स से लेकर फोर्ड एवं डाव केमिकल ने उनके इस अभियान में उनकी मदद की। यहूदी एवं अन्य लोगों की जातीय पहचान के अभियान में दुनिया की प्रसिद्ध कंपनी आई बी एम ने मदद की।भारतीय एवं उनके सहयोगी अंतर्राष्ट्रीय पूंजीपति घराने यह समझ चुके थे, कि अब भारत में खुली आर्थिक नीति के एजेंडे को उसके अगले मुकाम तक ले जाने के लिए हिटलर की कार्यशैली वाले एक राजनेता की दरकार है। वो देख चुके थे, किस तरह से नरेन्द्र मोदी ने गुजरात में एक तरफ सांप्रदायिकता के माहौल को चरम पर ले गए, दूसरी तरफ पूंजीपतियों पर प्रदेश के सारे संसाधन लुटा दिए। इसलिए 2014 में,नरेन्द्र मोदी भारत के पूंजीपतियों की पहली पसंद बने।और इस बात को और साफ़ करने के लिए, भाजप जैसे संघ से संचालित राजनैतिक पार्टी चुनाव में 'भाजप सरकार' की बजाए 'मोदी सरकार' के नारे के साथ चुनाव लड़ी।

जब पूंजीपति जातीयता, सांप्रदायिकता, धर्म के घोड़े पर बैठकर आते है, तब उसने निपटाना मुश्किल होता है। बाबरी से लेकर दादरी तक की खुली आर्थिक नीति और सांप्रदायिकता के उभार में एक गठजोड़ है। अपनी खुली आर्थिक नीति के दुष्परिणामों से देश का ध्यान हटाने के लिए अपनी सरकार के दूसरे वर्ष, दिसम्बर 1992, में नरसिम्हा राव ने उ. प्र. के अयोध्या में बाबरी मस्जिद गिरवाने में अपनी भूमिका निभाई। इसके बाद से देश में साम्प्रदायिक राजनीति का नया दौर शुरू हो गया और आर्थिक नीति राजनैतिक बहस और मीडिया के एजेंडे से बहार हो गई। उसी तरह, 2014 में मोदी सरकार की जो आर्थिक नीति शुरू हुई उससे ध्यान भटकाने के लिए, 2015 में उ. प्र. के ही दादरी में गौ-हत्या के नाम पर अखलाख को मारा गया; यह दौर निश्चित तौर पर 2019 के चुनाव तक जारी रहेगा।

असल में,मोदी सरकार की वर्तमान आर्थिक नीतियों की जड़ नरसिम्हा राव की सरकार के दौर में शुरू हुई इस खुली आर्थिक नीतियों में ही है। नेहरू, इंदिरा युग की अर्थ नीतियों की खामियां दूर कर उसे और लोकोन्मुखी बनाने की बजाए,1991 से उसेउल्टी दिशा में ले जाना शुरू कर दिया गया। जहाँआर्थिक सुधार के नाम पर शिक्षा से लेकर स्वास्थ, बैंको से लेकर बीमा तक सभी क्षेत्रों के दरवाजे कम्पनियों के लिए खुले करने की अर्थ-नीति का एक नयाब्लू-प्रिंट तैयार किया गया।अगर थोडें में कहें तो सरकार की भूमिका को न्याय, कानून व्यवस्था और सीमाओं की सुरक्षा तक सीमित कर बाकी सभी कुछ कंपनियों के हवाले करने की नीति की शुरुवात हो गई।वर्तमान सरकार इस ब्लूप्रिंट में छूटे हुए सबसे क्रूरतम फैसलों को लागू करने का काम कर रही है; कह सकते

है, खुली अर्थ-नीति का सबसे वीभत्स चेहरा हमारे सामने आ रहा है।

1991 के आर्थिक संकट की आड़ में, ब्रेटन वुड्स ब्रदर्स के नाम से जाने जाने वाले आई एम एफ और वर्ल्ड बैंक के दबाव में देश में संरचनात्मक सुधार के तहत देश की कार्पोरेटीकरण का जो ब्लूप्रिंट बना था, उसे नरसिम्हा राव को शपथ ग्रहण के एक दिन पहले – 20 जून 1991 को - कैबिनट सचिव नरेश चंद्रा ने उन्हें सौपा था।तब से अब-तक हमारी आर्थिक नीति इसी ब्लूप्रिंट के तहत निर्देशित है।

इस खुली आर्थिक नीति के एजेंडे में प्रमुख बातें इस प्रकार हैः

मुक्त व्यापार के तहत देश में व्यापार को विदेशी कम्पनीयों के लिए पूरी तरह मुक्त करना, जिसमें आयात से मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटाने के अलावा, रिटेल और होलसेल क्षेत्र को विदेशी कम्पनियों को पूर्ण निवेश के लिए खुला करना शामिल है; सार्वजानिक क्षेत्रों के उपक्रमों का निजीकरण; समाजिक जरूरी सेवा के क्षेत्र, जैसे शिक्षा आदि में सरकार की भूमिका कम से कम करना, राशन के अनाज, घरेलू गैस आदि से सब्सिडी खत्म करना; कृषि क्षेत्र की वस्तुओं के आयात पर भी प्रतिबन्ध हटाने के साथ-साथ किसानों को मिलने वाली सब्सीडी खत्म करना; कोयला और टेलिकॉम जैसे क्षेत्रों को खुला करना; और सबसे बड़ा एजेंडा था – बैंकिंग क्षेत्र को निजी क्षेत्र के लिए खुला छोड़ना और साथ ही सार्वजानिक क्षेत्र के बैंकों का निजीकरण।

जहाँ राव के दौर में सबसे पहले कार्यकारी मार्ग से, अमेरिकी डॉलर के मुकबले रुपए का 18% अवमूल्यन कर दिया।आयात शुल्क घटाया गया। विदेशी निवेश भारत में अर्थव्यवस्था को आंकने का एक नया पैमाना बन गया। जो विदेशी निवेश 1992-93 में मात्र 42 लाख डॉलर था, वो 1994-95 तक 243 अरब डॉलर तक जा पहुँचा। इस विदेशी निवेश से देश में उपभोक्तावाद का जो दौर चला उससे ऐसा लगा जैसे लोगों के आर्थिक हालात सुधर रहे हैं। लेकिन, जिस कृषि प्रधान देश में आज भी आधे से ज्यादा लोग खेती पर निर्भर हों और अधिकारिक आंकड़े के अनुसार 1991 से अब-तक तीन लाख से ज्यादा किसान आत्महत्या को मजबूर हो गए, जहाँ तीन दर्जन आदिवासी युवाओं को नक्सली बताकर एक रात एनकाउंटर के नाम पर मार दिया जाए और उन्हें आतंरिक सुरक्षा का सबसे बड़ा खतरा बताया जाए, देश का युवा बेरोजगार हो सांप्रदायिक उन्माद में लग जाएँ, वहाँ इसके खोखलेपन को समझना कोई मुश्किल नहीं है।अब हम वर्तमान सरकार की अर्थ-नीति से यह सब सुधरेगा या और बिगड़ेगा यह समझ ले।

मोदी सरकार की आर्थिक नीतिः

नरेन्द्र मोदी की आर्थिक नीतियों में राव की तरह ही आक्रामकता भी है, और उसी तरह साम्प्रदायिकता का तड़का भी; इसलिए, खुली आर्थिक नीतियों के 25 साल पूरे होने पर आर्थिक समीक्षाकारों ने दोनों को इस काम के लिए सराहा और भी कहा कि, राव के अधूरे एजेंडे को मोदी ही पूरा कर सकते हैं। वो आर्थिक नीति पर जो फैसले ले रहें, वो ऊपर से भारत की अर्थव्यवस्था से कालाधन दूर करने; व्यापार को सरल बनाने; टैक्स व्यवस्था को चुस्त-दुरुस्त बनाने वाले और बैंकिंग क्षेत्र में सुधार लाने वाले लग सकते है लेकिन वास्तविकता में ऐसा नहीं है।

नोट्बंदी और जी एस टी

यह सही है कि भारत की अर्थ-व्यवस्था पर वैश्य समाज का कब्ज़ा आजादी के बाद से आजतक जारी है; यह भी सही है, कि हमारे बैंकिंग और टैक्स वसूली आदि में बड़े बदलाव की जरूरत है। लेकिन यह बदलाव ऐसे हो, जहाँ अर्थ का बहाव ऊपर से नीचे की दिशा में होना चाहिए, ना कि नीचे से ऊपर।

नोट्बंदी और जी एस टी को मोदी सरकार के दो बड़े आर्थिक सुधारों के रूप में देखा जा रहा है। इसे कालाधन और टैक्स चोरी रोकने वाला आर्थिक सुधार बताया जा रहा है, वो असल में मोदी सरकार के कॉर्पोरेटीकरण के एजेंडे का हिस्सा है। टैक्स और व्यापार के कड़े नियम की कानूनी लड़ाई की झंझटो में फंसकर अमेरिका और यूरोप में छोटे व्यापारी कॉर्पोरेट के सामने टिक नहीं पाए। अमेरिका में 1950 में 27% लोग अपने धंधे में लगे थे, जो 2013 में मात्र 7% बचे। 2015 के आंकड़ों के अनुसार, वहाँ हर साल जितने नए व्यापार खुलते है, उसकी अपेक्षा 70 हजार ज्यादा बंद होते हैं। जिस तरह सरकार भारत जैसे देश में डिजिटल पेमेंट की अव्यवहारिकता और जी एस टी की पेचीदगियों को नजरंदाज कर उसके गुणगान में लगी है, उससे लगता है, भारत में भी छोटे व्यापारी खत्म हो जाएंगे।

वित्त मंत्री अरुण जेटली ने 22 जुलाई, 2017 को दिल्ली इकॉनोमिक कॉन्क्लेव में बोलते हुए कहा थाः नोटबंदी और जी एस टी के बाद नगद में धंधा करना बहुत मुश्किल हो जाएगा। इन दोनों फैसलों से यह साबित करने की कोशिश हो रही है कि नगद में व्यापार करने से कालाधन पैदा होता है और अब-तक के कर प्रावधानों से कर की चोरी होती थी। लेकिन,सरकार ने इस बात का कोई अध्ययन नहीं किया। और न ही यह देखा कि इसका करोड़ों स्थानीय व्यापरियों पर क्या विपरीत असर पड़ेगा?

नोटबंदी से आतंकवाद का खात्मा, कालेधन पर नकेल और नकली नोट पर रोक के जो दावे किए थे, उसकी

असलियत तो सबके सामने है। लेकिन, नोट्बंदी से देश के व्यापार की हालात अचानक शरीर से सारा खून चूसे गए मरीज जैसी जरूर हो गई है; इसका सबसे बुरा असर लघु और मध्यम उद्योगों पर पड़ा हैः उदाहरण के तौर पर,हिन्दू अख़बार में छपी एक खबर के अनुसार अकेले दिल्ली एन सी आर में इनके धंधे में 20% कमी और 20-30% नौकरियां चली गईं।अन्य सेक्टर पर भी इसकी मार पड़ रही है। वहीं जी एस टी से जो एक्सपोर्ट बढ़ने की बात हो रही थी,वो भी अभी तो उसके उलट समझ में आ रही है। फेडरेशन ऑफ इंडियन एक्सपोर्ट आर्गेनाईजेशन ने सरकार से कहा कि टैक्स में 60 दिन की उनकी पूंजी फंसने से भारतीय एक्सपोर्ट 2% महंगा हो गया है;जिससे वो अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में प्रतिस्पर्धा में नहीं टिक पाएंगे।वहीं स्माल स्केल मैन्युफैक्चरिंग इंडस्ट्रीज के राष्ट्रीय अध्यक्ष के. ई. रघुनाथन का कहना है कि जी एस टी में टैक्स इनपुट मिलने में 120 से 140 दिन लगेंगे जिससे लागत पूंजी लगभग 18% के आसपास बढ़ने से खर्चे बढ़ेंगे।

भारत में व्यापार का अपना तरीका लम्बे समय से चला आ रहा है, इसलिए बिना किसी औपचारिक व्यावसायिक शिक्षा के करोड़ों लोग व्यापार में लगे हैः यहाँ पांचवी पास भी आराम से व्यापार कर लेता है। भारत सरकार की संस्था, नेशनल सैंपल सर्वे की हालिया रिपोर्ट के अनुसारः भारत में अनौपचारिक क्षेत्र में 6 करोड़ तीस लाख प्रतिष्ठान हैं - इसमें 84% में परिवार के सदस्य ही काम करते हैं - जिसमें 11 करोड़ लोग काम में लगे हैं और यह 11 लाख 50 हजार करोड़ रुपए सालाना का उत्पादन करते हैं। इन्हें कॉर्पोरेट के तरह टैक्स में छूट या बैंक लोन जैसी कोई सुविधा भी नहीं मिलती है। इसमें से 36%, याने दो करोड़ 26 लाख दुकानें हैं। स्वभाविक है, यह नगद में काम करते होंगे। इस सारे व्यापार को कॉर्पोरेट के कब्जे में करने के लिए जरुरी था कि अब-तक प्रचलित व्यापार के तरीके पर सवालिया निशान लगाया जाए; और कानूनी रोक भी लगाई जाए। पहले नोटबंदी और अब जी एस टी ने यह काम कर दिया है।

वहीं जी एस टी में भी सवाल टैक्स की दर बढ़ने या घटने का नहीं है। वो तो होता रहता है और कर तो जनता को देना है; चाहे जो दर हो। लेकिन, इसमें एक तो छोटे व्यापरियों को माल महंगा मिलेगा। दूसरा, व्यापार उलझन भरा बन जाएगा। जी एस टी में हर बात के लिए बड़ी लम्बी कागजी कार्यवाही और वो भी ऑनलाइन करना है; इससे ओवरहेड बढ़ जाएंगे, गलती होने पर जुर्माने और सजा का डर अलग। सरकार भले ही कहे कि वो इंस्पेक्टर राज खत्म कर रही है;लेकिन ऑनलाइन निगरानी के आलावा, आने वाले समय में केंद्र सरकार जो 2 लाख लोगों की भर्ती करने वाली है, उसमें 75 हजार की भर्ती टेक्स विभाग में होगी।। इस सबके चलते धीरे-धीरे आम-व्यापारी के लिए व्यापार घाटे का सौदा बन जाएगा।

देशी-विदेशी बड़े कॉर्पोरेट यह चाहते हैं कि अमेरिका और यूरोप की तर्ज पर भारत में भी व्यापार हो। अमेरिका और यूरोप में पहले भारत की तरह स्थानीय व्यापारी होते थे, जो व्यापार करते थे और किसान खेती। मगर धीरे-धीरे वहाँ चंद बड़े कॉर्पोरेट के हाथों में सारा व्यापार चला गया; वहाँ की जनता की पूरी जिन्दगी वो नियंत्रित करते हैं। वहाँ जनता वही खाती और पहनती है, जो यह कंपनियाँ बनाती हैं। यहाँ तककि वहाँ की खेती भी काफी हद-तक चंद बड़े कारपोरेशन के हाथों में है।यूरोप में भी कमीबेश यही हाल है।

ई-कॉमर्स एवं रिटेल सेक्टर

असल में डिजिटल पेमेंट और जी एस टी यह दोनों ही मल्टीनेशनल कंपनी के व्यापार को आसान बनाएंगे; वो इसी का इन्तजार कर रहे थे। इसलिए, 1 जुलाई को जी एस टी लागू होते ही, 9 जुलाई को केंद्र सरकार ने अमेरिकी ई-कॉमर्स कंपनी अमेज़ान को फूड रिटेल में 100% विदेशी पूंजी लगाने के 3200 करोड़ के प्रस्ताव को मंजूरी दी; और महाराष्ट्र सरकार ने अमेरिकी वाल्ल्मार्ट को 15 होलसेल स्टोर खोलने के प्रस्ताव को मंजूरी दी। इतना ही नहीं, 14 जुलाई को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की अध्यक्षता में हुई बैठक में एफ डी आई नीति की समीक्षा की गई, जिसमेंः मल्टी-ब्रांड रिटेल में एफ डी आई 51% से बढ़ाकर 100% करने की बात है; वहीं, सिंगल ब्रांड में इसके 100% को आटोमेटिक रूट में डालने के बात है, अभी 49% से उपर सरकार की मंजूरी लगती है। निर्माण के क्षेत्र में अविकसित प्लाट में भी 100% एफ डी आई को अनुमति देने और प्रिंट मीडिया में इसे और उदार बनाने के प्रस्ताव जल्द पारित करने की बात भी इस मीटिंग में हुई है।

मोदी सरकार पहले ही खुदरा व्यापार में विदेशी निवेश के फैसले ले लिए थेः 'ई कॉमर्स' में और फ़ूड प्रोसेसिंग के व्यापार में 100% सीधे विदेशी निवेश की छूट।वही बिहार चुनाव के परिणामों के शोरगुल के बीच, 12 नवम्बर 2015 कोः सैन्य सामान, भवन निर्माण जैसे 15 क्षेत्रों में 49% सीधे विदेशी निवेश की छूट के साथ- साथ, निजी बैंकों के लिए इस छूट को 75% कर दिया गया। इन फैसलों से खुदरा व्यापार के साथ-साथ बैंको की पूंजी पर भी विदेशी पूंजी का कब्जा हो जाएगा।

फ़ूड प्रोसेसिंग का धंधा लगभग 7 से 8 लाख करोड़ का है। वहीं, ई-कॉमर्स का धंधा, जो 2009 में 23 हजार करोड़ रुपए का था, वो 2016 में 2 लाख 35 हजार करोड़ रुपए तक जा पहुँचा है, 2020 तक, इसके 6 लाख करोड़ रुपए से ऊपर पहुँचने की उम्मीद है। सोने के आभूषणों के कुल 2.5

लाख करोड़ रुपए के धंधे में से अभी 36 हजार करोड़ ई-कॉमर्स के जरिए होता है – जो कुछ सालों में 1.5 लाख करोड़ रुपए तक पहुँच जाएगा।वैसे भी, 2008 में, देश में खुदरा ज्वेलरी का 10% व्यापार संगठित क्षेत्र में था; जो पहले ही सरकार की नीतियों के चलते 2014 में बढ़कर 22% हो गया है।

चीन की अलीबाबा और अमेरिका की अमेज़ान दुनिया की सबसे बड़ी खुदरा व्यापार करने वाली कंपनियाँ हैं। अकेले अलीबाबा ई-कॉमर्स कंपनी की वेबसाइट पर 12 लाख विक्रेता रजिस्टर्ड हैं। वही वालमार्ट दुनिया की सबसे बड़ी रिटेल स्टोर की श्रृंखला है – अकेले अमेरिका में 21.5% खुदरा व्यापार पर उसका कब्जा है। और अब इसने भारत में फ़ैली एक बड़ी ई-कॉमर्स कंपनी, फ्लिप्कार्ट को खरीद लिया है।खुदरा व्यापरियों पर शिंकजा और विदेशी पूंजी को 100% छूट से देश में हर तरह के खुदरा व्यापार पर एक बड़ा संकट आ जाएगा।

कालाधन और कर चोरी

हम यह नहीं कह रहे कि सरकार नए नियम कानून न बनाए और टैक्स वसूली न बढाएँ। सरकार व्यापार व्यवस्था में जरुरी सुधार लाएँ और देश के विकास के लिए टैक्स वसूली भी बढाए – यह अच्छी बात है। लेकिन, ऐसा था तो 2016-17 के केन्द्रीय बजट में कंपनियों को 6 लाख 11 हजार करोड़ से ज्यादा की राजस्व कर वसूली में छूट क्यों दी गई? – जो हमारे कुल बजट का एक तिहाई हिस्सा है।

नोटबंदी के दौरान किए गए सारे दावे खोखले साबित हुए; इस सारी कयावाद के बाद कितना धन बैंको में आया यह रिज़र्व बैंक के गवर्नर संसदीय समीति को अभी-तक नहीं बता पाए। इसमें कालाधन कितना है, यह बताना तो दूर की बात है।

अन्तराष्ट्रीय संस्था, ग्लोबल फाइनेंसियल इंट्रीगिटी की 2008 की भारत के कालेधन पर एक रिपोर्ट के अनुसार 72% कालाधन विदेश में है; सिर्फ 28% भारत में है,इसमें भी कितना नगदी यह एक बड़ा सवाल है। संस्था का कहना हैः यह जो कालाधन विदेश जाता है, उसका एक सीधा तरीका है - वहाँ से आयात किए जाने वाली वस्तु की ओवर इन्वोसिंग– मतलब विदेश से जो मशीनरी आदि रॉ मटेरियल निर्यात होता है, उसके बढ़ा-चढ़ा कर बनवाना और बची हुई राशि उद्योगपतियों के विदेश में स्थित खातों में जमा कर दी जाती है। इस बारे में सरकार ने अभी-तक कुछ नहीं किया है। उल्टा डायरेक्टर ऑफ रेवन्यू इंटेलीजेन्स देश की पॉवर कंपनी पर कोयले के आयात में ओवर इन्वोसिंग के जरिए जो 29 हजार करोड़ रुपए के घोटाले का आरोप लगाया है उसमें कुछ नहीं किया। इसके आलावा सरकार ने वित्त मंत्रालय की 2013 की एक रिपोर्ट में यह बताया है कि कैसे डायमंड के धंधे में काले पैसे को सफ़ेद बनाने और आतंकवाद को फंड करने का काम हो रहा है; इस रिपोर्ट पर भी कोई कार्यवाही नहीं की।

नगदी भुगतान से कालाधन पैदा होता है और ऑनलाइन या बैंकिंग भुगतान से नहीं, ऐसा कोई ठोस प्रमाण न तो अब-तक भारत में मिला है, और न ही दुनिया की किसी और अर्थव्यवस्था में। अगर हम अमेरिका के हालात देखें, तो वहाँ हाल ही में राष्ट्रपति बने डोनाल्ड ट्रम्प पर 1995 में गलत तरीके से 6 हजार करोड़ का घाटा दिखा पिछले 20 सालों से कोई टैक्स नहीं भरने का आरोप है। अमेरिका के आन्तरिक राजस्व विभाग की रिपोर्ट के अनुसार वहाँ हर साल 30 लाख करोड़ रुपए की कर चोरी होती है। अमेरिका और यूरोपियन युनियन में कर चोरी का आरोप एप्पल से रूपए लेकर गूगल तक सभी बड़े कॉर्पोरेट पर है। दुनिया का तीसरा सबसे धनी व्यक्ति, बारेन बफेट सालाना सिर्फ 12 करोड़ रुपए व्यक्तिगत कर भरता है।

बैंको के निजीकरण के जरिए महाबैंक डकैती की योजनाः

1969 में जब तात्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरागांधी ने बैंको के राष्ट्रीयकरण का फैसला लिया, हो सकता है, तब वो उनकी राजनैतिक मजबूरी का नतीजा हो, लेकिन यह देश की अर्थव्यवस्था को चंद लोगों के कब्जे में जाने से बचाने की दिशा में सबसा बड़ा फैसला था। उस समय कहा गया थाः चूँकि बैंको में जमा 70% राशि जनता की है, इसलिए इसके वितरण पर नियन्त्रण निजी हाथों में नहीं सार्वजानिक क्षेत्र में होना चाहिए। और इस उद्देश्य के साथ 14 बड़े बैंको का राष्ट्रीयकरण 19 जुलाई 1969को किया गया;1980 में कुछ और बैंकों इस सूची में शामिल किए गए। और आज भी 70% जमा राशि इन बैंकों के पास ही है। इस ब्लूप्रिंट के तहत 1991 से ही निजी बैंकों को भी मंजूरी दी गईः जैसे, एच डी एफ सी; आई सी आई सी आई; एक्सिस बैंक और कुछ सीमित रूप से विदेशी बैंकों को भी। फिर धीरे-धीरे बीमा क्षेत्र को निजी छेत्रों के लिए खोला गया। अभी तक बैंकिंग और बीमा में क्रमशः 74% और 49% एफ डी आई की भी मंजूरी दे दी गई है; लेकिन सार्वजानिक बैंको के निजीकरण का काम रह गया। अब नीरव मोदीकांड ने मोदी सरकार को दूसरा आर्थिक संकट दिखाकर इस एजेंडे को लागू करने की रणनीति और मौका दे दिया है।इसलिए राव के अधूरे काम को मोदी व्दारा पूरा किए जाने की बातें हो रही हैं।

बैंको को आर्थिक संकट में निजी क्षेत्र से जुड़े उद्योगपतियों ने डाला है और कमाल की बात यह है कि निजीकरण के तहत यह बैंक एक तरह से उनके ही कब्जे में ही

देने की बातें हो रही हैं।ऐसा ही एक आर्थिक संकट 1991 में दिखाया गया था, जबकि सरकार की 1990-91 के आर्थिक सर्वेक्षण के अनुसार 1989-90 में सातवी पंवर्षीय योजना खत्म होने के साथ कृषि से लेकर औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि ठीक थीः जी डी पी की सालाना औसत विकास दर 5% के लक्ष्य के एवज में 5.7% प्रति वर्ष थी। सिर्फ खाड़ी के देशों में युद्ध के चलते पेट्रोलियम पदार्थ के आयात में विदेशी मुद्रा में भुगतान में थोड़ी अड़चन थी। लेकिन इस संकट का हल्ला 1991 में ऐसे हुआ, जैसे देश दिवालिया हो गया हो। पहले चंद्रशेखर और फिर राव सरकर के दौर में कर्जे के लिए विदेशी बैंको में देश का सोना भेजा गया। देश को आर्थिक संकट समझाने के लिए इससे बढ़िया तरीका सरकार के पास नहीं था। वर्ना कोई कारण नहीं था कि, कुछ हजार करोड़ रुपए के बराबर डॉलर में विदेशी ऋ़ण के बदले भारत सरकार को अपना सोना विदेशों के बैंकों में गिरवी रखने को मजबूर किया जाता। आज की विनिमय दर के अनुसार अप्रैल में 1300 करोड़ और जुलाई में 2600 करोड़ मूल्य का ऋ़ण सोना गिरवी रख लिया गया था।

पिछले कुछ समय से मोदी सरकार द्वारा किए जा रहे बैंकिंग कानूनों में परिवर्तन को देखें तो हमें यह स्पष्ट दिखाई देगा कि यह योजना की शुरुवात काफी पहले से ही हो गई थी, वित्तीय संसाधन एवं जमा बीमा विधेयक, 2017 (एफ आर डी आई- financial resolution and deposit insurance bill); इस बिल की बाद अगर बैंको का एन पी ए या घोटाले के कारण दिवालिया निकलेगा तो बैंक बीमा कंपनी के जरिए आपको सिर्फ एक लाख रुपए तक का मुवावजा का भुगतान करने को बाध्य होंगे,फिर चाहे बैंको में जमा आपकी राशि दस लाख क्यों न हो। इतना ही नहीं छोटे-छोटे बैंकों के विलनीयकरण; बड़े-बड़े उद्योगपतियों के बकाया बट्टा खाते डालना या उन्हें एडजस्ट करना; इन्सोल्वेंसी बैंकिंग कोड, 2016; बैंकिंग रेगुलेशन आर्डिनेंस, 2017 जैसे अनेक नए कानूनी परिवर्तन पहले ही लाए जा चुके हैं।

लेकिन, पहले तो हम यह देखें कि सार्वजानिक बैंको में यह संकट आया क्यों? असल में, 1991 के बाद से ही विकास और रोजगार के अवसर के नाम पर पूंजीपतियों ने लगातार दबाव बनाकर इन बैंको को बड़े उद्योगों को सरल शर्तों पर ऋ़ण देने के लिए कानूनों और शर्तों में अनेक बदलाव के लिए मजबूर किया; पिछले 10 सालों में यह काम और तेजी से हुआ। निजी बैंको के बजाए सार्वजानिक क्षेत्र के बैंको को इस बात के लिए मजबूर किया गया कि वो रोजगार और औद्योगिक विकास के लिए उर्जा, टेलीकाम, स्टील, रियल स्टेट क्षेत्र में बड़े ऋ़ण दें। इसी का परिणाम है, जहाँ 1991 में बैंको में एन पी ए की समस्या नहीं के बराबर थी आज वह भयावह है। आर बी आई के उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार 2004-05 में एनपीए मात्र 48 हजार 399 करोड़ रुपए था; वहीं, 2016 में यह 5 लाख 39 हजार करोड़ और, आज यह राशि नौ लाख (8.97) करोड़ हो गई है। बैंकों का पैसा चुकाए बिना माल्या देश से भाग गए, अडानी ग्रुप पर 72 हजार करोड़ रुपए का ऋ़ण है; कुल 44 कॉर्पोरेट घरानों पर 4 लाख 26 हजार 4 सौ करोड़ का बकाया सरकार बट्टे खाते (NPA मतलब ऐसा लोन जो जिसके वसूली की अब उम्मीद नहीं है और एक तरह से जो नॉन परफोर्मिंग एसेट हो गया) में डाल चुकी है। वर्ष 2018 में सार्वजानिक बैंको का 1 लाख 20 हजार करोड़ रुपए का लोन बट्टे खाते में डाला गया। सार्वजानिक बैंको में 73% एन पी ए कॉर्पोरेट का है। आर बी आई के 31 मार्च 2017 के आंकड़ों के अनुसार इन बैंको के कुल 6.41 लाख करोड़ के एन पी ए में सेः 4,70,084 लाख करोड़ रुपए, 73.33%, इंडस्ट्रीज को; 57, 021 करोड़, 8.89 %, कृषि क्षेत्र में; 84,686 करोड़, 13.21%, सर्विस क्षेत्र में; और 23,795 करोड़, 3.71%, ही रिटेल क्षेत्र में है। ●

सामाजिक प्रस्ताव

हमारे देश, भारत में, कहने को स्वतंत्रता हासिल करने के बाद से बहुत कुछ बदला है, मगर जाति-व्यवस्था व पितृसत्तात्मक सरंचना की जकड़ भारतीय समाज पर इतनी मज़बूत है कि अभी भी एक साथ उन्नीसवीं सदी की सामंती व्यवस्था व आधुनिकता का असर दिखता है।

भारत के संविधान निर्माताओं ने सदियों से चली आ रही जातिगत विषमता को मद्देनज़र रखते हुए, जाति-आधारित आरक्षण की व्यवस्था दी।

मंडल कमीशन द्वारा जब पिछड़े-वर्ग (OBC) के लिए आरक्षण की सुविधा की संस्तुति की गयी, तब तुरंत ही, अन्य सब आरक्षण के मानको के अलावा आर्थिक मानदंड या मलाईदार परत (creamy layer) को रखने

की भी मांग उठी व मान ली गयी।

आज जो पुरोहित के पेशे में जन्म-जात आरक्षण पाए हुए हैं, साथ जिनको बाजार का आर्थिक आरक्षण शिक्षा, स्वास्थ्य और पेशे में मिला हुआ है, वो दलितों-आदिवासियों के लिए creamy layer के माध्यम से आरक्षण (विशेष अवसर) की सुविधा को ख़त्म करना चाहते है।

पूरे देश में दलितों पर बढ़ते हुए अत्याचार, साथ में उच्च-शिक्षा में छात्र-वृत्तियों को ख़त्म करने की सरकारी नीतियों से त्रस्त, अपने मेधा से उद्दीप्त साथी रोहित वेमुला व अनीता (तमिलनाडु) की आत्म-हत्या से क्षुब्ध, दलित युवा आंदोलित है।

सुप्रीम कोर्ट के एक निर्णय से भी यह शंका उठनी स्वाभाविक थी, सरकार सीधे-सीधे नहीं, तो पिछले दरवाज़े से आरक्षण ख़तम करना चाहती है। अगर विश्वविद्यालय के स्तर पर आरक्षण की जगह हर विभाग में रिक्त पदों के अनुपात में आरक्षण लाया जायेगा तो लाभार्थियों की संख्या नहीं के बराबर होगी।

हालांकि सिर्फ आरक्षण से जाति-जनित गैर बराबरी ख़त्म नहीं होगी।

समाजवादी जन परिषद (सजप) की यह स्पष्ट मान्यता है कि जब तक समाज में जातिगत भेद-भाव जारी रहेगा, तब तक जाति-आधारित आरक्षण रहना चाहिए।

हालांकि, यह भी सत्य हैं कि बिना जाति-उन्मूलन के, भारतीय समाज में समता नहीं लायी जा सकती। शिक्षा में समान अवसर भी जीवन-स्तर के कारण मिल नहीं पाते। देश में शिक्षा का बाज़ारीकरण हो चुका है।

जाति-उन्मूलन के लिए सामजिक आंदोलन करना होगा। हर धर्म की कुरीतियों व अंधविश्वासों को भी ख़त्म करना होगा।

2014 से 2018 के बीच जो भाजपा-नीत (NDA) गठबंधन केंद्र में है, उसमें तथाकथित 'अवर्ण' जातियों, औरतों के साथ अक़लियत (मुसलमान, ईसाई) को भी दोयम दर्ज़े का नागरिक मान लिया गया है। गौ-माता की रक्षा के नाम पर आये दिन मुस्लिम किसानों, पशुपालकों की हत्या हो रही है।

सम्प्रति अकबर खान उर्फ़ रकबर कअलवर में गौरक्षकों ने पीट पीट कर अधमरा कर दिया। उसका साथी भागने में सफल हुआ। उसी राजस्थान में कोटा में एक गौशला में 1 दिन में 27 गायों की मौत हो गयी। उ.प्र. के मुख्यमंत्री टीवी पर हंस कर बयान देते है की देश में गाय सुरक्षित रहेगी तो लोग सुरक्षित रहेंगे। राजस्थान की भाजपा, राज्य की राजधानी जयपुर में एक सरकारी गौशाला में एक दिन में 200 गायों की मौत छुपा देती है, और उसके ही समर्थक गाय चोरी के छद्म में अल्पसंख्यक किसानों और पशुपालकों को पीट-पीट कर मार देते हैं।

2019 के चुनाव के पहले मोदी सरकार अपनी विफलताओं को ढकने के लिए सांप्रदायिक उन्माद पूरी कोशिश करेगी। शुरुआत हो चुकी है। कभी बच्चा-चोरी की अफवाह फैला कर तो कभी गौरक्षा के नाम पर, इंसान को इंसान से लड़ाया जा रहा है। सजप को एक सजग प्रहरी के रूप में अपने ग्राम व शहर में काम करना होगा।

दिसंबर 2016 में जो निर्भया कांड के नाम से अति-क्रूर बलात्कार हुआ था, दिल्ली में युवाओं का ज़बरदस्त आंदोलन हुआ था और जस्टिस वर्मा कमीशन ने जो संस्तुतियाँ दी थीं, उससे यह लगा था कि देश का जन-मानस बदल रहा है।

ठीक उलट, जघन्य बलात्कार-हत्या के कांड हुए हैं, हो रहे हैं। 2018 जनवरी का कठुआ में एक आठ साल की गूजर बच्ची से मंदिर में बलात्कार व हत्या ने फिर देश-समाज को चिंतित होने पर मजबूर किया है। क्या हम इस हैवानियत को रोक नहीं सकते ?

बलात्कार एक सेक्स से जुड़ा अपराध है मगर उसकी प्रेरक शक्ति किसी व्यक्ति या तबके को नीचा दिखाना या सताना होता है। समाज में अपना वर्चस्व या दादागिरी जमाये रखने के लिए भी होता है। जैसे की कठुआ कांड में ज़ाहिर हुआ। दुर्भाग्य से वो एक 8 साल की बच्ची को झेलना पड़ा। मृत्यु-दंड का प्रभाव बलात्कार व हत्या को हरदम एक साथ जोड़ने का होगा।

शिक्षा का स्वरूप बदलना होगा। वर्तमान में शिक्षा को सिर्फ रोज़गार से जोड़ा जाता है। जो जितना उपार्जन करता है, उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा उतनी ही ऊँची होती है।

स्कूल में शुरू से ही अगर बराबरी के मूल्य सिखाएं जायें; यह सिखाया जाये कि जाति,धर्म, लिंग-आधारित सामाजिक भेदभाव (gender differences), के बूते पर सामाजिक भेदभाव बुरी चीज़ है ; कि श्रम की प्रतिष्ठा पोथी पढ़ने से ज़्यादा है, ऐसा सिखाया जाये, तो शायद हम एक समता-मूलक समाज की ओर कदम बढ़ा पाएँ।

देश में एक समता-मूलक समाज बनाना सजप के ध्येय में से एक है।

प्रस्तावक- डॉ0 स्वाति

कश्मीर : घटनाक्रम और समस्या के समाधान की तलाश

बलवीर जैन

आजादी के सत्तर साल बाद भी कश्मीर समस्या का समाधान नहीं हो पाया है। उस वक्त छह सौ से ज्यादा रियासतों का भारत में विलय हुआ था। इसी राज्य के विलय के साथ ही समस्या क्यों है?

जम्मू-कश्मीर का भारत में विलय आजादी के तीन माह बाद अक्टूबर 1947 में हुआ था। उस वक्त जम्मू-कश्मीर के कई हिस्सों पर कबायली (छद्मवेश में पाकिस्तानी फौजी) हमला हुआ था। विलय के समय महाराजा हरीसिंह और उनके प्रधानमंत्री मेहरचन्द महाजन श्रीनगर में नहीं थे, वे जम्मू शहर में चले गये थे। कबायलियों का मुकाबला शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में कश्मीर घाटी की आम जनता कर रही थी।

बाद में हवाई मार्ग से भारतीय सेना आती है और पाकिस्तानी सेना को कश्मीर घाटी के बाहर उड़ी तक खदेड़ दिया जाता है। उसी समय संयुक्त राष्ट्र के युद्ध-विराम के प्रस्ताव के कारण युद्ध रोक दिया जाता है और जम्मू-कश्मीर का क्षेत्रफल के हिसाब से लगभग 40 फीसदी हिस्सा पाकिस्तान द्वारा अधिकृत हो जाता है। संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव के अनुसार रियासत के विलय का फैसला जनमत द्वारा किया जाना था। पर प्रस्ताव की प्रथम शर्त यह थी पाकिस्तानी फौज को रियासत से हटाया जाना था; पर न पाकिस्तान की फौज हटी और न ही जनमत का मार्ग प्रशस्त हो सका है।

अक्टूबर 1947 से जनवरी 1948 तक मेहरचन्द महाजन ही राज्य के प्रधानमंत्री के ओहदा पर रहे और इस दौरान शेख अब्दुल्ला राज्य के प्रमुख प्रशासक रहे। जनवरी 1948 में महाराज के बेटे युवराज कर्ण सिंह को सदरे रियासत नियुक्त किया गया और शेख अब्दुल्ला राज्य के दूसरे प्रधानमंत्री बनाये गये। कई रियासतों के राजाओं को उस वक्त राजप्रमुख बनाया गया था जोकि गवर्नर जनरल (राष्ट्रपति) के अधीनस्थ थे। पर सदरेरियासत की हैसियत इससे अलग थी और वे राष्ट्रपति के अधीनस्थ नहीं थे।

केन्द्र सरकार की भूमिका उस वक्त मुख्यतः सुरक्षा, विदेशी मामले, संचार और मुद्रा तक ही सीमित थी। राज्य में दाखिल होने के लिए परमिट लेना पड़ता था और अन्य राज्यों के आयात पर कस्टम ड्यूटी (आयात कर) भी देना पड़ता था। इसके अलावा स्टेट सब्जैक्ट (राज्य के विषय बाद में धारा 370) समेत अन्य बंदिशें भी थीं।

26 जनवरी 1950 के बाद सभी राज्यों के मुखिया राज्यपाल और मुख्यमंत्री थे। पर जम्मू-कश्मीर में सदरे रियासत और प्रधानमंत्री थे क्योंकि राज्य का अपना संविधान ड्राफ्ट किया जा रहा था। 1951 में राज्य संविधान सभा के लिए चुनाव कराये गये थे। वैसे राज्य के संविधान में राज्य को भारत का अभिन्न हिस्सा माना गया है पर भारत के कानून राज्य पर स्वतः लागू नहीं होते हैं। उन्हें राज्यविधान सभा की स्वीकृति के बाद ही लागू किया जाता है— यह व्यवस्था आज भी लागू है।

जम्मू-कश्मीर के विशेष दर्जे का शुरू से ही विरोध होता रहा है। 1950 के दशक में जनसंघ की राज्य इकाई प्रजा परिषद ने इसके विरोध में आन्दोलन किया था और 11 मई 1953 में जनसंघ अध्यक्ष श्यामाप्रसाद मुखर्जी राज्य में बिना परमिट घुस आए थे और उन्हें राज्य के बार्डर पर गिरफ्तार कर लिया गया था; बाद में 23 जून 1953 को उनका जेल में ही देहान्त हो गया था। इस घटनाक्रम से अलग अगस्त 1953 में एक ऐतिहासिक घटना घटती है। जम्मू-कश्मीर के प्रधानमंत्री शेख अब्दुल्ला को देशविरोधी साजिश के आरोप में बर्खास्त करके कैद कर लिया गया। यह कारवाई सदरे रियासत ने राज्य मंत्रिमंडल की सिफारिश पर की थी। इस कार्रवाई का बाद में राज्य विधानसभा में अनुमोदन प्रस्ताव भारी बहुमत द्वारा पारत किया गया।

एक तरफ विशेष दर्जे का विरोध करने के लिए श्यामा प्रसाद मुखर्जी को गिरफ्तार किया गया तो दूसरी ओर विशेष दर्जे के अन्तर्गत ज्यादा आन्तरिक स्वायत्तता के हिमायती शेख अब्दुल्ला को भी कैद कर लिया गया। क्या शेख की बर्खास्तगी और गिरफ्तारी किसी तरह की संत्रास के कारण की गई थी? उन्हें बिना मुकदमा चलाए 1958 तक कैद रखा गया और फिर उन्हें रिहा कर

दिया गया। क्या उनकी 1953 में गिरफ्तारी ऐतिहासिक भूल नहीं थी? 1955 में शेख अब्दुल्ला के प्रमुख सहयोगी मिर्जा अफजल बेग की अध्यक्षता में जनमत संग्रह मोर्चे का गठन किया गया और इसमें शेख समर्थकों के साथ कई भारत-विरोधी तत्त्व भी शामिल हो गए। यह तत्त्व शेख की गिरफ्तारी के पूर्व हाशिये पर थे पर1980 के दशक के अन्तिम वर्षों और 1990 के शुरुआती वर्षों में ये तत्त्व व्यापक स्तर पर साम्प्रदायिक हिंसा में अगुआई करने की हैसियत में आ गए थे। आज के हालात के विपरीत 1947-48 में कश्मीर घाटी शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में सांप्रदायिक एकता की देश भर में मिसाल थी।

शेख की 1953 में गिरफ्तारी के बाद सदरे-रियासत ने बख्शी गुलाम मोहम्मद को राज्य का प्रधानमंत्री नियुक्त किया। बख्शी इसके पूर्व शेख मंत्रिमंडल के उप-प्रधानमंत्री थे। बख्शी के नेतृत्व में जम्मू-कश्मीर के मामले में केन्द्र-राज्य संबंधों में धीरे-धीरे एकीकरण की दिशा में कई बदलाव किये गये। 1954 में भारत के अन्य हिस्सों से आयातित वस्तुओं पर कस्टम ड्यूटी (आयात कर) हटा दिया गया और 1958 में राज्य में दाखिल होने के लिए परमिट की व्यवस्था को भी हटा दिया गया।

बख्शी के कार्यकाल में सदरे रियासत और प्रधानमंत्री के ओहदों को यथावत रखा गया। 1963 में कामराज प्रस्ताव के अनुसार तीन राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने इस्तीफा दिया था— उनमें बख्शी भी थे। 1964 में गुलाम मोहम्मद सादिक राज्य के प्रधानमंत्री बने और उनके कार्यकाल की शुरुआत में एकीकरण की दिशामें एक बड़ा कदम लिया गया— राज्य के सदरे रियासत और प्रधानमंत्री के ओहदों के स्थान पर राज्यपाल और मुख्यमंत्री के ओहदों को अपनाया गया। डा0 कर्णसिंह राज्य के प्रथम राज्यपाल और गुलाममोहम्मद सादिक राज्य के प्रथम मुख्यमंत्री नियुक्त किये। गये तब से अन्य राज्यों की तरह राष्ट्रपति ही राज्यपाल की नियुक्ति करते हैं और इसके साथ राष्ट्रपति शासन का प्रावधान भी राज्य पर लागू है।

1953 में शेख अब्दुल्ला को रिहा कर दिया गया। वे 1953 से 1958 तक बिना मुकदमा नजरबंद रहे। पर रिहाई के कुछ दिन बाद उन्हें दोबारा गिरफ्तार किया गया। मिर्जा अफजल बेग सहित 22 अन्य व्यक्तियों को भी उनके साथ गिरफ्तार किया गया और उनपर 'कश्मीर साजिश' नाम से केस दाखिल किया गया 1964 तक इस केस की सुनवाई होती है और फिर अचानक अप्रैल 1964 को शेख अब्दुल्ला को रिहा कर दिया जाता है और साथ ही यह केस भी वापस ले लिया जाता है।

अप्रैल 1964 की रिहाई के बाद शेख को पाकिस्तान जाने दिया जाता है— यह शायद भारत-पाकिस्तान संबंधों को सुधारने की दिशा में एक प्रयास था। राष्ट्रपति अयूब खाँ, विदेशमंत्री भुट्टो से मिलने के बाद वे पाक अधिकृत कश्मीर की राजधानी मुज्जफराबाद भी जाते हैं। हर जगह उनका स्वागत किया गया। भारत लौटने के कुछ दिन बाद ही 27 मई 1964 को पण्डित नेहरू का देहान्त हो गया और उसके बाद सारा मामला ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया।

1965 से 1974 तक शेख को नजरबन्द रखा गया, बीच में उन्हें रिहा करके दोबारा कैद कर लिया गया था। 1975 में इन्दिरा-शेख समझौते के अन्तर्गत राज्य के मुख्यमंत्री बनते हैं। 1975 से 1977 के दौरान वह विधानसभा में बहुमत वाली कांग्रेस पाटी के समर्थन से मुख्यमंत्री बने थे। 1977 के विधानसभा चुनाव में उनकी पार्टी नेशनल कांफ्रेस को बहुमत मिलने पर वे दोबारा मुख्यमंत्री पद ग्रहण करते हैं।

1982 में शेख अब्दुल्ला की मृत्यु के पश्चात् उनके बेटे फारुख अब्दुल्ला राज्यके मुख्यमंत्री बनते हैं। 1983 में नेशनल कांफ्रेंस दोबारा चुनाव जीतकर सत्ता हासिल करत लेती है। कांग्रेस प्रमुख विपक्षी दल था। पर जुलाई 1984 में फारुख के बहनोई गुलाम मोहम्मद शाह नेशनल कांग्रेस के 12 विधायकों और कांग्रेस की मदद से सत्ता पलट देते हैं और मुख्यमंत्री के पद पर आसीन हो जाते हैं। 1986 में कश्मीर घाटी में पहली बार साम्प्रदायिक दंगे होते हैं और शाह सरकार को बर्खास्त करके राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जाता है। इन दंगों में शाह सरकार की भूमिका संदेहजनक रही है। नेशनल कांफ्रेस को दो फाड़ करके शाह सरकार ने अपने निहित स्वार्थ के लिए साम्प्रदायिक तत्त्वों को इस्तेमाल करके राज्य में साम्प्रदायिक विघटन की एक तरह से शुरुआत कर दी थी।

शाह सरकार की बर्खास्तगी के बाद फिर एक नाटकीय मोड़ आता है। प्रधानमंत्री राजीव गाँधी और फारूख अब्दुल्ला के बीच सहमति के बाद कांग्रेस समर्थन के साथ नवम्बर 1986 में फारूख दोबारा राज्य के मुख्यमंत्री पद पर आसीन होते हैं। गौरतलब है कि जुलाई

1984 में कांग्रेस समर्थन से ही फारुख सरकार का तख्ता पलटा गया था।

1987 में विधानसभा चुनाव में नेशनल कांफ्रेस और कांग्रेस 75 में से 62 स्थानों पर विजयी रहते हैं। इन चुनावों में व्यापक धाँधली और बूथ-कब्जे के आरोप लगाए जाते रहे हैं। इन चुनावों के बाद बड़ी संख्या में हिंसक वारदातें शुरू हो गयी थी। कई नौजवान जे के एल एफ जैसे अलगाववादी संगठनों में शामिल हो गए। एक तरह से इसे व्यापक स्तर पर आतंकी गतिविधियों की शुरुआत भी माना जा सकता है।

इस संदर्भ में दो खास मिसालें हैं— युसूफ शाह के चुनाव में मुस्लिम युनाइटेड फ्रंट का अमीराक दल विधानसभा सीट के लिए उम्मीदवार था। उसके चुनाव प्रचार में यासिन मलिक ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। इस सीट पर नेशनल कांफ्रेस के उम्मीदवार को विजयी घोषित किये जाने पर अपना विरोध प्रदर्शन करने के कारण युसूफ शाह और यासिन मलिक को गिरफ्तार किया गया और बिना मुकदमा चलाए उन्हें कई महीनों तक नजरबंद रखा गया।

जेल से छूटने के बाद युसूफ शाह ने अपना नाम सैय्यद सलाहुद्दीन रख लिया और बाद में वह आतंकी संगठन हिजबुलमुजाहिदिन का प्रमुख भी बन गया। यासिन मलिक रिहाई के बाद पाक-अधिकृत कश्मीर में चला गया। 1989 में वह जे के एल एफ के एक कोर मैम्बर की हैसियत से कश्मीर घाटी में वापस आ गया। अगस्त 1990 में जख्मी हालत में यासीन को गिरफ्तार किया गया और मई 1994 तक उसे कैद रखा गया। यासीन मलिक ने हिंसा का मार्ग तो छोड़ दिया है और 'आजादी' के लिए अहिंसक संघर्ष का मार्ग अपना लिया है। गौरतलब है कि फरवरी 2013 में यासिन मलिक फरवरी 2013 में आतंकी संगठन लश्करे तैयबा के प्रमुख हाफिज सईद के साथ इस्लामाबाद (पाकिस्तान) में मंच साझा किया था।

जे के एल एफ और हिजबुल मुजाहिदिन की अगुआई में सितंबर 1989 से कश्मीरी हिन्दुओं की हत्याओं का सिलसिला शुरू हो गया। उस वक्त फारुख अब्दुल्ला राज्य के मुख्यमंत्री थे। कानून-व्यवस्था के लचर होने के कारण वे कश्मीरी हिन्दुओं को सरे-आम कत्ल कर दिया गया। परिणामस्वरूप हिन्दुओं का कश्मीर घाटी से भारी संख्या में पलायन हो जाता है, 1989 के पूर्व कश्मीर घाटी में लगभग 1 लाख 70 हजार हिन्दू थे; अब वहाँ मात्र 2-3 हजार ही हिन्दू हैं। कश्मीर में एक तरह भीड़ का ही कानून चलता था। शुरू में इसने हिन्दू पलायन का रूप लिया है बाद में तालीबानी वंदिशें लगाने की कोशिश की गई, पर तालिबानी फरमानों को कश्मीर की आम जनता ने पसन्द नहीं किया और 1994 से तालिबानी जकड़ कमजोर पड़ने लगी और हिंसक वारदातों में भी कमी आना शुरू हो गई। 1996 में हालात काफी सुधर गये थे, छह साल के राष्ट्रपति शासन के बाद विधानसभा के चुनाव 1996 में ही आयोजन किया जा सका।

1969 से 1989 तक कश्मीर में हिंसा का दौर रहा है। इसकी शुरुआत हिन्दुओं की सरे-आम हत्याओं से हुई थी। सरे-आम मारे जाने वालों में हाईकोर्ट के जज, श्रीनगर दूरदर्शन के डायरेक्टर इत्यादि थे। यह दौर सितम्बर 1989 में शुरू हुआ था तब फारुख अब्दुल्ला राज्य के मुख्यमंत्री थे। केन्द्र में वी.पी. सिंह सरकार थी जिसमें मुफ्ती मोहम्मद सईद गृहमंत्री थे। मुफ्ती की सिफारिश पर जम्मू-कश्मीर की हालत पर नियन्त्रण करने के लिए जगमोहन गवर्नर नियुक्त किये गये। इसके पूर्व जगमोहन 1884 से मई 1989 तक राज्य के गवर्नर रहे थे। पर उनकी नियुक्ति फारुख को मंजूर नहीं थी। जगमोहन ने गवर्नर का ओहदा 20 जनवरी 1990 को संभाला जबकि 19 जनवरी को ही फारूख अब्दुल्ला ने मुख्यमंत्री पद से इस्तीफा दे दिया।

21 जनवरी 1990 को गाव दल, श्रीनगर में हिंसक भीड़ पर सुरक्षा बलों को गोली चलानी पड़ी जिसमें 28 व्यक्ति मारे गए। इसके पूर्व 19 और 20 जनवरी को श्रीनगर में व्यापक स्तर पर सुरक्षा बलों ने सर्च आपरेशन चलाया था और उसी से नाराज भीड़ लाल चौक की तरफ बढ़ रही थी जिसे गाव दल पुल पर रोकने की सुरक्षा बलों ने कोशिश की। पर उग्र भीड़ के पथराव के कारण सुरक्षाबलों को गोली चलानी पड़ी जिससे 28 प्रदर्शनकारी मारे गये। तलाशी अभियान के बारे में दोनों फारुख और जगमोहन किसी तरह से लिप्त होने से इन्कार करते रहे हैं। तो फिर यह फैसला किसका था? जगमोहन को आखिरकार मई 1990 में गवर्नर पद से हटा दिया गया।

जुलाई 1984 में 12 विधायकों की दलबदल और कांग्रेस के 26 विधायकों के समर्थन से बनी शाह सरकार के आसीन होने के लिए साथ ही राज्य में राजनीतिक अस्थिरता का दौर शुरू हो गया। फरवरी 1986 में

साम्प्रदायिक दंगों से जैसे राज्य में प्रतिमान ही बदल गया। साम्प्रदायिक भाईचारे का प्रतिमान छिन्न-भिन्न होने लगा। 1987 के विधानसभा चुनाव में धाँधली की शिकायत करने वालों के साथ सख्ती के कारण अलगाववादियों के समर्थन में भी इजाफा हुआ। सितम्बर 1989 से कश्मीरी हिन्दुओं की सरेआम हत्याओं का दौर शुरू हो गया। भीड़तन्त्र से पैदा हुए हालात को संभाल न पाने की स्थिति में 1987 में चुनी सरकार जनवरी 1990 तक आसीन रही और अगले छह साल के लिए राज्य पर राष्ट्रपति शासन रहा।

1989 और 1994 के बीच आतंकी गतिविधियों के कारण स्थिति बहुत बिगड़ी हुई थी। इस दौरान 5000 से ज्यादा आतंकवादी मारे गए जिनमें बड़ी संख्या विदेशी आतंकवादियों की थी। 1994 के बाद बहुत से कश्मीर आतंकवादियों ने अमन का रास्ता अपना कर नई जिन्दगी की शुरुआत की। जिससे 1996 में राज्य में चुनाव कराये जा सके। पर बहुत से आतंकवादी सक्रिय रहे। सरकारी सूत्रों के अनुसार 2002 में लगभग साढ़े तीन हजार आतंकी सक्रिय थे जिनमें से सवा दो हजार विदेशी और सवा एक हजार स्थानीय आतंकी थे। 2008 में उनकी संख्या घटकर 800 रह गई थी जिनमें 300 विदेशी आतंकी थे। इस आतंकी दौर का एक दुखद पहलू नागरिकों की मौतें भी हैं। 2004 में 976 आतंकी, 314 सुरक्षाबलों के जवान और 707 नागरिक मारे गये थे। पर हिंसक गतिविधियों में कमी आने से अमन की उम्मीद बनने लगी थी। पर 2008 में अमरनाथ यात्रा के लिए ट्रस्ट को जमीन देने के प्रस्ताव का घाटी में कड़ा विरोध होने से आतंकी संगठनों की गतिविधियों में दोबारा वृद्धि हो गई और कश्मीर घाटी अभी भी अशान्त और हिंसक दौर से गुजर रही है।

कश्मीर में सदियों से साम्प्रदायिक भाईचारा रहा है; हैरानगी की बात यह है कि बुरहान वानी जैसे आतंकी भी कश्मीरी हिन्दुओं की सुरक्षा का दम भरते रहे हैं। कारण स्पष्ट है कि आज भी कश्मीर का बहुमत साम्प्रदायिक भाई-चारे का हिमायती है।

1947 में कश्मीर जनता का बहुत बड़ा हिस्सा भारत में विलय का पक्षधर था। इसमें पहली दरार 1953 में शेख अब्दुल्ला की गिरफ्तारी से पड़ी थी। 1975 में शेख की सत्ता में वापसी से भी यह दरार खत्म नहीं हो पाई। पर जम्मू-कश्मीर में 1977 में निष्पक्ष चुनाव जरूर हो सके थे जिससे हालात सुधरे थे। 1982 में शेख के देहान्त के बाद 1983 में भी चुनाव ठीक तरह से कराये गये। पर जुलाई 1984 में कांग्रेस समर्थित दलबदलुओं की सरकार ने हालात को उल्टी दिशा में ढकेल दिया। 1987 के चुनाव परिणामों के अविश्वसनीय होने की धारणा से अलगाववादियों को हाशिये से बाहर आने का मौका मिल गया। 1987 के बाद जिस मात्रा में उनको जनसमर्थन मिला उससे अलगाववादी खुद ही हैरान थे। इन तत्त्वों ने भीड़तन्त्र द्वारा हिन्दुओं को पलायन के लिए मजबूर कर दिया और विदेशी आतंकियों की मदद से 1989 से1995 तक व्यापक स्तर पर हिंसक गतिविधियों को अन्जाम दिया। उसके बाद कई गुमराह हुए नौजवानों ने आतंक का मार्ग छोड़ा और उन्हें पुनर्वासन का मौका भी दिया गया। इससे आतंकियों की संख्या तो कम हुई है पर आतंक की समस्या बनी हुई है।

केन्द्र सरकार ने कई बार विशेष वित्तीय पैकेजों द्वारा समस्या को हल करने की कोशिश की है पर इससे जन-साधारण के रहन-सहन पर असर हुआ है— ऐसा नहीं लगता है।

राज्य में जिस तरह से चुनाव कराये जाते हैं उनके परिणामों की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिन्ह लगता है। 1951 में राज्य संविधान सभा की 75 में से 74 सीटों पर निर्विरोध चुनाव हो गया था। नामांकन अधिकारी को चुनौती नहीं दे सकने के प्रावधान से यही ऐसी ही प्रक्रिया (घटती हुई मात्रा में) 1957, 1962, 1967 आदि के चुनाव में अपनाई गई थी। 1977 के चुनाव धांधलियों से मुक्त थे। 1987 के चुनाव परिणाम कई मतदाताओं के अनुसार अविश्वसनीय थे। लोकतंत्र में आम जनता की भगीदारी होती है। कश्मीर में ऐसा माहौल क्यों नहीं है।

1953 में शुरू हुए गलत फैसलों को बदलना आवश्यक है। जनसाधारण का लोकतंत्र में विश्वास लाने के लिए निष्पक्ष चुनाव अपरिहार्य है। पर इस सबसे पहले अमन स्थापित करना होगा। आज कश्मीर में जगह-जगह सुरक्षा बल तैनात हैं। यह स्थिति कब तक जारी रह सकती है?

पर इस हालात से कैसे निकला जा सकता है? कश्मीर का आम आदमी साम्प्रदायिक नहीं है पर वह तो हिंसक भीड़ के आगे शक्तिहीन है। अमन बहाली के साथ-साथ 1977 की तरह निर्बाध चुनाव से ही समाधान निकल सकता है। ●

मातृभाषा में लिखने पर मुझे जेल हुई

गु गी वा थियांग

लगभग 50 साल पूर्व केन्या के लेखक गू गी वा थियांग (Ngu gi wa Thiong) ने घोषित किया कि अंग्रेजी भाषा ईसाईयत, बपतिस्मा से मिला नाम, यह सब कुछ अनचाही विरासत है, जो उनके समाज का औपनिवेशिक अतीत है। हालाँकि अपने शुरूआती उपन्यास उन्होंने अंग्रेजी भाषा में ही लिखे थे। बाद में उन्होंने अपनी मातृभाषा गी कू यू (Gi Ku Yu) में लिखना शुरू किया। प्रद्युम्न सोढ़ा (Pradhuman Sodha) के साथ एक साक्षात्कालर में उन्होंने भाषा, संस्कृति और अपनी पहचान के जटिल संबंधों का जिक्र किया है –

सवाल- आपके किस अनुभव ने आपको अपनी मातृभाषा गी कू यू (Gi Ku Yu) में लिखने के लिए प्रेरित किया?

जवाब- मैंने प्रारंभ में अंग्रेजी में लिखना शुरू किया और मेरे प्रथम चार उपन्यास- द रिवर बिटवीन, वीप नाट चाइल्ड, ए ग्रेन ऑव ह्वीट एवं पेटल्सं ऑव ब्ल ड सभी अंग्रेजी में थे। इसके बाद 1977-78 में अपनी मातृभाषा गी कू यू (Gi Ku Yu) में नाटक गाहिका डींडा (Ngaahika Ndeenda) (जब मर्जी होगी तब मैं शादी करूँगा) लिखने के कारण मुझे सख्त निगरानी वाले जेल में डाल दिया गया। मैं इस बात से बहुत दुखी हुआ कि अफ्रीकी सरकार ने मुझे मेरी मातृभाषा में नाटक लिखने के कारण जेल में डाल दिया। जेल में मैंने बहुत गहराई से भाषा और उपनिवेशवाद के बारे में सोचना शुरू किया। मैंने अंग्रेजी की जगह अपनी मातृभाषा गी कू यू (Gi Ku Yu) में लिखने का निश्चय किया और जेल में ही अपनी मातृभाषा में पहला उपन्यागस टायलेट पेपर पर लिखा। उपन्यास का नाम कैटानी मू थाराबेंज (Caitaani Mu Tharabainj) पड़ा जो अंग्रेजी में डेविल आन द क्रास के नाम से अनुवाद किया गया।

सवाल- जब आपने अपनी मातृभाषा में लिखने का निश्चय किया तो आपको किन चुनौतियों का सामना करना पड़ा?

जवाब- पहली चुनौती तो शुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक थी। क्या सच में मैं ऐसा कर सकता हूँ? क्या मैं आधुनिक उपन्यास उस भाषा में लिख सकता हूँ? जिसमें पहले कोई उपन्यास नहीं लिखा गया है? जेल में और आस पास जो लोग थे वे राजनैतिक कैदी थे और उन्होंने मुझे प्रोत्साहहित किया।

सवाल- उपनिवेशवाद के मनोवैज्ञानिक प्रभाव से लड़ने के व्यक्तिगत प्रयास में मातृभाषा लोगों के लिए कितनी महत्वपूर्ण है?

जवाब- हम सभी को दुनिया से जुड़ने के लिए एक आधार की जरूरत होती है। अपनी संस्कृति की भाषा, अपने आस-पास के समाज में बोली जाने वाली भाषा, अपनी मातृभाषा ही आपका आधार है। यदि आप दुनिया की सभी भाषाओं के जानकार हैं और अपनी ही मातृभाषा नहीं जानते, तो यह दासता है, गुलामी है। लेकिन यदि आप अपनी मातृभाषा जानते हैं और तब दुनिया की तमाम भाषाएं उसमें जुड़ती हैं तो यह सशक्तीकरण है।

सवाल- आपकी जेल की स्मृति 'रेसलिंग विथ द डेविल' जल्द ही आने वाला है। आपकी जिंदगी की उस समय की सबसे महत्वपूर्ण बात क्या है, जो आप अपने पाठकों को बताना चाहेंगे?

जवाब- यह मेरी 1977 दिसम्बर से 1978 दिसम्बर तक जेल के अनुभव की यादें हैं। इसे मैंने जेल से छूटने के एक साल बाद लिखा था लेकिन इसका आधार जेल के मेरे नोट्स थे। पहले इसका प्रतिबंधित रूप ही प्रकाशित हुआ था, लेकिन इसे मैंने फिर से विकसित किया, उसमें से बहुत से अंश जिनका ऐतिहासिक महत्व कम हो गया था हटा दिया और उसमें सिर्फ उन अनुभवों को रहने दिया जो टायलेट पेपर पर उपन्यास लिखने से संबंधित थे। मैं लेखन को सच्चे प्रतिरोध के रूप में लाना चाहता था। जो टायलेट पेपर कैदियों को दिया जाता था वह बहुत कड़ा होता था। संभवतः उन्हें सजा देने के लिए। लेकिन वह लिखने के लिए बहुत उपयुक्त था क्योंकि उस पर पेन बहुत अच्छी चलती थी। मेरे संस्मरण में एक अध्याय है- आई काल शेरलॉक होम्स एंड द केस ऑफ द मिसिंग नावेल, जिसमें बताया गया है कि कैसे जेल प्रशासन के द्वारा मेरा

उपन्यास जब्त कर लिया गया और अन्ततः मैंने कैसे उसे खोज निकाला। मैंने देखा कि मातृभाषा में उपन्यास लिखने को मेरा प्रतिरोध समझा गया और मुझे जेल में बंद करने का कारण बना।

सवाल- आपने भारत भ्रमण किया। हमलोग एक देश के रूप में अपनी आत्मा पर से उपनिवेशवाद के प्रभाव को कम करने या हटाने में कहाँ तक समर्थ हुए हैं ?

जवाब- मैं भारत में इतना पर्याप्त समय नहीं रुका कि मैं वहाँ के बारे में कुछ सही-सही बता सकूँ, लेकिन मैंने महसूस किया कि भारत भी बाकी सभी पूर्व उपनिवेशों की तरह, आज भी उसके दुष्प्रभाव से बाहर आने के लिए संघर्ष कर रहा है। अंग्रेजी आज भी प्रभावी भाषा है। उपनिवेशवाद भाषा और समाज को असमान सत्ता संबंध के रूप में ऊँच-नीच क्रम के संदर्भ में ही परिभाषित करता है। कुछ भाषाओं और संस्कृतियों को अन्य की तुलना में श्रेष्ठता की नजर से देखा गया। भाषा और संस्कृति को समानता के तंत्र के साधन के रूप में काम करना चाहिए न कि समाज में असमान सत्ता संबंध के वर्ग भेद के रूप में। हमें भाषायी और सांस्कृतिक सामन्तवाद को समाप्त करना पड़ेगा। क्योंकि यह उपनिवेशवाद का अवशेष है।

सवाल- क्या कोई ऐसा भारतीय लेखक है जिसे आपने पढ़ा हो और जिसने आपको आपके रचनात्मक वर्षों में प्रभावित किया हो?

जवाब- आर. के. नारायण, मुल्कराज आनन्द और सलमान रूश्दी।

सवाल- आपका काम उपनिवेशवाद के बाद के प्रभाव को भी बताता है, जिसे प्रायः उन स्वदेशी प्राधिकारियों द्वारा प्रवर्तित किया गया, जिन्होंने उपनिवेशवादियों से सत्ता ग्रहण की। आप इसके बारे में कुछ बता सकते हैं?

जवाब- इसे ही मैं नव उपनिवेशवाद कहता हूँ। यह ऐसी स्थिति है कि देश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होता है, परन्तु उसकी अर्थव्यवस्था अभी भी पश्चिमी देशों के प्रभावी आर्थिक शक्तियों से नियंत्रित होती है। यह देश की आत्मा और संस्कृति को भी प्रभावित करता है। हम हमेशा ही हर कार्य की मान्यता के लिए पश्चिम की ओर देखते हैं। वास्तविक मान्यता अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपने लोग और उनकी जरूरतों से मिलनी चाहिए।

हिंदी रूपांतर- अर्चना सिंह

टाइम्स ऑफ इंडिया से साभार.

तुम्हारी हिंदी हमारी मैथिली

प्रियदर्शन

मैथिलीभाषी समुदाय इन दिनों बहुत गुस्से में हैं। कुछ अरसा पहले बिहार में एक अखब़ार ने मैथिली को बोली करार दिया। नतीजा यह हुआ कि उस अखब़ार के कार्यक्रम के बहिष्कार की अपील की गई और जिन्होंने यह अपील नहीं मानी, उनके मुँह पर कालिख पोतने तक की कार्रवाई हुई। इस दौरान मैथिलीभाषियों ने हिंदी के साम्राज्यवाद की भी शिकायत की।

ऐसे मैथिली प्रेम पर क्या कहा जाए? यह सच है कि मैथिली में विद्यापति से नागार्जुन तक और बिल्कुल समकालीन लेखकों तक साहित्य की एक समृद्ध परंपरा रही है। लेकिन क्या बस इसी दर्प के सहारे मैथिली बोली या भाषा के रूप में अपनी हैसियत चाहती है?

भाषाशास्त्र के विद्वान बताते हैं कि उनके लिए बोलियों और भाषाओं में कोई अंतर नहीं होता। जिसमें भी अभिव्यक्ति संभव होती है, वह उनके लिए भाषा है। लेकिन बोली और भाषा का झगड़ा कहां से शुरू होता है? वह राजनीति और समाज में भाषाओं की हैसियत से शुरू होता है। यह अमूमन मान लिया जाता है कि भाषाओं की हैसियत बोलियों से बड़ी होती है। जिन लोगों को एक अखब़ार में उनकी भाषा को बोली करार दिए जाने पर इतना दुख पहुँचा, उन्हें शायद मालूम नहीं है कि बिल्कुल हाल में- यानी इसी मार्च महीने में- केंद्र सरकार ने लोकसभा में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि मैथिली ज़्यादातर सिर्फ़ वाचिक परंपरा का हिस्सा रही है और लिपि के लिए वह कई और भाषाओं की तरह देवनागरी और कैथी पर निर्भर रही है। सरकार ने यह जानकारी लोकसभा सांसद कीर्ति आज़ाद के इस प्रश्न पर दी कि मैथिली की लिपि के विकास के लिए सरकार क्या कर रही है? सरकार ने कहा कि उसके पास ऐसी कोई योजना नहीं है। यही नहीं, कुछ साल पहले जब

मीरा कुमार लोकसभा की अध्यक्ष थीं तब उन्होंने समस्तीपुर के एक कॉलेज के कार्यक्रम में इस बात पर दुख जताया कि बीते छह साल में बिहार से आए किसी भी सांसद ने मैथिली में बोलने का कष्ट नहीं किया।

जब सार्वजनिक दुनिया में मैथिली की यह हालत है तो क्या उसके कुछ भावुक लेखक मैथिली के नाम पर किसी के चेहरे पर कालिख पोत कर भाषा को बचा सकते हैं? इसमें शक नहीं कि लेखक भी भाषाओं को बचाते हैं। होमर ने लैटिन को बचाया है, कालिदास ने संस्कृत को, ग़ालिब और मीर ने उर्दू को और तुलसी और कबीर और सूर ने अवधी और ब्रज को बचाया है। लेकिन भाषाओं को उनकी असली हैसियत बाज़ार और राजनीति में उनकी ताकत से हासिल होती है- इस बात से हासिल होती है कि उनमें रोटी और रोजगार की कितनी गुंजाइश है, ज्ञान-विज्ञान के नए स्रोतों तक उनकी पहुंच कितनी है। हमारे देखते-देखते भाषा कही जाने वाली अवधी और ब्रज जैसी भाषाएं बोलियों में बदल गईं और खड़ी बोली कहलाने वाली हिंदी भाषा बन गई। लेकिन हिंदी भी अपने सारे भाषिक सामर्थ्य और भौगोलिक विस्तार के बावजूद बाकी दूसरी भाषाओं की तरह ही अंग्रेजी के सामने हांफने को मजबूर है। क्योंकि अब सत्ता की भाषा अंग्रेज़ी है, वही रोटी, रोज़गार और सम्मान दिलाती है।

इतिहास बताता है कि दुनिया भर में जो देश मज़बूत हुए, उनकी भाषाओं की वैश्विक स्वीकृति बढ़ती गई। रूस सोवियत संघ के रूप में जब अपना बड़ा दखल रखता था तो रूसी बड़ी भाषा मानी जाती थी, जापान की हैसियत बड़ी थी तो जापानी की हैसियत बढ़ी, अब चीन का दौर है तो चीनी सीखने वाले बढ़ रहे हैं। पहले ब्रिटेन और अब अमेरिका के दबदबे ने अंग्रेजी का दबदबा बनाए रखा है। दुर्भाग्य से भारत के मज़बूत होने का मतलब अंग्रेज़ी का मज़बूत होना है। पहले अंग्रेजी के लेखक खुद को इंडियन इंग्लिश लेखक मानते-बताते थे, अब वे इंडियन राइटर हो चुके हैं- भारतीय भाषाओं के लेखकों की हैसियत उनके नीचे की है।

इस परिदृश्य में मैथिली किसी के मुंह पर कालिख पोतने या नारे लगाने से नहीं बचेगी। हिंदी साम्राज्यवाद की सतही शिकायत से भी नहीं बचेगी। यह शिकायत कभी तमिल ने की और कभी बांग्ला ने, लेकिन हिंदी से इस टकराव का उन्हें कुछ हासिल नहीं हुआ, हिंदी को तो नुक़सान हुआ ही। दरअसल मैथिली तभी बचेगी जब हिंदी मज़बूत होगी और भारतीय भाषाओं का संसार बड़ा होगा।

लेकिन यह कैसे होगा? जो समाज मैथिली को लेकर इतना आंदोलित है, क्या उसे एहसास है कि भारत की नई पीढ़ी अपनी भाषिक जड़ों से कट कर अंग्रेज़ी की शरण में जा रही है? भारत का पूरा का पूरा मध्य वर्ग अपने पढ़ने-लिखने, सोचने-विचारने के लिए अंग्रेजी का इस्तेमाल कर रहा है। मैथिली घरों के बच्चे इसके अपवाद नहीं हैं। बिल्कुल नई पीढ़ियों में भोजपुरी, मगही, मैथिली का चलन खत्म होता जा रहा है। खुद हिंदी भी अंग्रेज़ी के दबाव में इस तरह बदल रही है कि उसे ठीक से पहचानना मुश्किल होता जा रहा है। वह आधी अंग्रेज़ी हो चुकी है। उसमें जैसे नए शब्द गढ़ने का- किन्हीं शब्दों को अपने ढंग से बरतने का- आत्मविश्वास खत्म हो चुका है। जहां तक मैथिली का सवाल है, उसे बोली बता देने भर से उत्तेजित हो जाने वाले लोग भाषाओं के इस पराभव पर भी चिंतित और परेशान हों तो कुछ बात बने। मैथिली निस्संदेह एक समृद्ध भाषा है जिसमें साहित्य और संवाद की परंपरा पुरानी है- लेकिन यह उद्धत मैथिलवाद इस परंपरा को ताकत देने की जगह कमज़ोर ही करेगा, उसे मखौल के लायक ही छोड़ेगा। कई हिंदीवीरों की वजह से हिंदी में जो कातरता दिखाई पड़ती है, कहीं कुछ मैथिलीवीरों की वजह से वह मैथिल तक भी न चली आए। वैसे भी हिंदी और मैथिली कई लिहाज से सहोदरा भाषाएं हैं और कमोबेश उपेक्षा की एक सी नीति की शिकार भी।

●

समीक्षा

विरल लोगों का विरल होते जाना

डॉ0 कश्मीर उप्पल

महान कवि काडवेल ने कहा है कि 'कविता वह है जो पढ़ने पर घटित होती है।' ठीक इसी तरह राजेन्द्र राजन का कविता संग्रह 'बामियान में बुद्ध' घटित होता है। अफगानिस्तान के बामियान में तालिबान ने बुद्ध की हजारों वर्ष पहले गढ़ी गई मूर्ति को बारुद से उड़ा दिया था। वह बुद्ध की मूर्ति पहाड़ों को काटकर बनाई गई थी जिसे तालिबान के 'लड़ाकों' ने बारुद से उड़ा दिया था। तालिबान का अर्थ विद्यार्थी या शिष्य ही है। यह एक ऐसा प्रतीक है जो इस संग्रह की लगभग सभी कविताओं पर अपनी छाप छोड़ता है। हमारे देश को विदेशियों ने नहीं अपनों ने ही ऐसे घाव दिए हैं कि देश के लोग देश में ही निर्वासित हो गए हैं।

बामियान में बुद्ध कविता में हम बारुद का शोर और पहाड़ों का ढहना तो सुन और देख सकते हैं। परन्तु हमारे आसपास ढहाई जा रही संस्कृति और सभ्यता को नहीं देख और समझ पाते हैं। हमें अपना दरकता पहाड़ न दिखता है न विस्फोट सुनाई देता है। हम भक्तिभाव में कीर्तन में डूबे लोग बना दिए या बन गए हैं।

इस संग्रह की कविताओं से होकर गुजरना आसान नहीं है क्योंकि आगे बढ़ने के लिए जमीन का कोई टुकड़ा भी दिखाई नहीं देता है। हमारे चारों तरफ संकीर्तन में डूबे हुए लोग हैं। ऐसी ही धुन दुनिया के कई देशों ने अपने-अपने विश्वयुद्धों से पहले सुनी थी और वे उसमें बहकर अपने आप को खो बैठे।

राजेन्द्र राजन की 69 कविताएं संग्रह के 116 पृष्ठों में फैलकर अपने पाठक की घेराबंदी कुछ इस तरह करती हैं कि आप इन कविताओं से किसी न किसी पक्ष का निष्कर्ष पाए बिना छूटते नहीं हैं।

आज के बाजारवाद को भी कविता 'बाजार में कबीर' खूब खोलती है। कबीर अपनी चादर लेकर बाजार में हैं पर इस बार कबीर खुद संशय में हैं। कबीर ने बदलते आदमी तो खूब देखे हैं पर कंपनी में बदलता आदमी या आदमी में बदलती कंपनी को देख, पहली बाद संशयग्रस्त हुए हैं। आज के बाजार में जो कुछ भी है वह कंपनी का होना चाहिए। कबीर भारतीय सभ्यता के सूर्य को डूबता देखते हैं क्योंकि इसमें आदमी गायब होता जा रहा है।

इस तरह के वातावरण में विनम्र, गुणी, ज्ञानी और अनुभवी और हुनरमंदर होना काफी नहीं है। आदमी के पास जो कुछ है उसकी अर्थवत्ता साहस से पूर्ण होती है। 'जब किसी के पीछे चलना' कविता ज्ञानी होने के साथ साहसी होने की या न होने के परिणामों को उजागर करती है। सब कुछ होकर भी साहस का न होना सारे ज्ञान और गुणों को ध्वस्त कर देता है।

यदि ज्ञान के साथ साहस आता है और इन दोनों के साथ प्रहार की शक्ति भी आती है। पत्थर अगर तेरहवें प्रहार में टूटता हो तो हमें पहले प्रहार कर देना चाहिए तभी तो दूसरा, तीसरा और तेरहवां प्रहार हो सकेगा। अंतिम प्रहार के लिए रुक जाना बेमानी है।

समसामयिक वातावरण की परतें खोलती कविता कहती है कि असहमति की आवाज दबाने वाले गिरोहों का घेरा बढ़ता ही जा रहा है। वे आपस में एक दूसरे से सहमत हैं परन्तु वे जिनकी हत्या कर रहे हैं वे ही आपस में सहमत नहीं हो पा रहे हैं।

राजेन्द्र राजन की कविता विनम्र स्वीकारोक्ति पूर्ण साहस की कविता है। वे कहते हैं कि मुझमें नफरत, गुस्सा, कुंठा, ईर्ष्या, अंधी महत्वकांक्षाएं, दुष्ट कल्पनाएं और भयानक वासनाएं हैं परन्तु वह सभी मेरी सामर्थ्य से परे हैं। यह कविता मानवीयता के प्रश्न को और अधिक ताकत देती हैं क्योंकि सत्य की स्वीकारोक्ति स्वयं साहस बन जाती है।

इसी तरह पश्चाताप कविता हमें बताती है कि ज्यादा से ज्यादा सीढ़ियां चढ़ने, ज्यादा पोथियां पढ़ने, ज्यादा लड़ाईयां लड़ने से हम में ज्यादा क्रूरता, ज्यादा मूर्खता, ज्यादा कायरता ही बढ़ती जाती है। जीवन के सीधे और सरल मार्ग को छोड़ना अपने आप से क्रूरता करना ही है।

'मनुष्यता के मोर्चे पर' कविता हम सभी के लिए कविता है। हम सभी के पास काम-धंधे, खाने-पीने, बीबी-बच्चों के सिवा दूसरे लोगों के लिए समय ही नहीं है। बाकी लोगों के लिए हमारे दरवाजे सदा बंद ही रहते हैं। समय केवल अपनों के लिए कोई जैसे चीज बन गया है।

बहुत कम लोग हैं जो जीवन का सत्य खोजते रहते हैं। इस संसार सागर में ऐसे लोग एक छोटे से टापू के निवासी बनकर रह गए हैं। राजेन्द्र एक महत्वपूर्ण वक्तव्य अपनी इस कविता में देते हैं कि सबसे पीड़ाजनक है इस दुनिया के विरल लोगों का और विरल होते जाना।

'बुखार पर्व' एक महत्वपूर्ण कविता है जो हमारे समकालीन समाज की खूब पड़ताल करती है। कितना

आश्चर्य है कि जो फेंक दिए गए थे इतिहास के कूड़ेदान में आज वे घूम रहे हैं दल के दल और बजा रहें हैं धर्म का 'बाजा'। इस महत्वपूर्ण कविता के अन्त में कवि कहता है 'अपनी इस सफलता से अभिभूत हैं वे कि जब वे कहते हैं संकंट में है धर्म तब कोई नहीं पूछता रोटी और इंसाफ का सवाल।' धरती पर जीवित रहने से बड़ा स्वर्ग का धर्म बना दिया गया है।

आज हर आदमी विजेता की प्रतीक्षा में है क्योंकि उन्हें कभी नहीं सताता पराजय का बोध, वे हमेशा विजेताओं की जय बोलते हैं। इस संग्रह में कई महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय कविताएं हैं जिनमें बुद्धिजीवी बहस में अपराजेय, खंडहरों पर पताकाएं, यह कैसा विकास, एक सभा में, विभाजन, लौटना और बामियान में बुद्ध हैं।

आत्मनिर्वासित पोल कवि चेस्वान मिवोश कहते हैं कि 'मेरे मामले में एक सबक सीखा जा सकता है कि कवि को हमेशा अपने 'कवि' होने की छवि को बरकरार रखना चाहिए।' प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध का निर्वासन इतना पीड़ादायक नहीं रहा होगा जितना अपने ही देश में अपनी ही भूमि में रहकर उसकी 'तासीर' से निर्वासित हो जाना। राजेन्द्र राजन ने अपने 'कवि' होने की छवि को न केवल बरकरार रखा है बल्कि कविता की उम्मीद को भी जीवित रखा है। केदारनाथ सिंह ने ठीक कहा है कि कविता लगभग उस दूब की तरह होती है, जो पत्थर पर भी ऊग आती है।

एम.आई.जी.-31, प्रियदर्शिनी नगर
इटारसी (म.प्र.) 461111, फोन - 0942504045

पुस्तक - बामियान में बुद्ध
कवि - राजेन्द्र राजन
प्रकाशक - साहित्य भंडार, इलाहाबाद ●

मुझे तो सीधे रास्ते जाना था

प्रियदर्शन

कविता कई बार सादगी से भी पैदा होती है। कोई कवि बिल्कुल सरलता के साथ एक सच पर उंगली रख देता है- कुछ इस तरह जैसे हमने उसे पहले देखा नहीं है, अगर देखा या अनुभव भी किया है तो उस अनुभव को इस सहजता से व्यक्त नहीं किया है कि उसकी पीड़ा या विडंबना बिल्कुल मूर्तिमान हो उठे।

राजेंद्र राजन इसी सादगी या सादाबयानी के कवि हैं। वे लंबे समय से कविता लिखते रहे हैं और अपने मित्रों को लगभग हैरान भी करते रहे हैं। लेकिन उनका पहला संग्रह आने में जैसे एक उम्र निकल गई। 'बामियान में बुद्ध' के नाम से यह संग्रह अब इसी साल आया है। कहने को बामियान में बुद्ध की विराट प्रतिमाओं के ध्वंस की कहानी लगभग दो दशक पुरानी हो चुकी है, लेकिन हम पा रहे हैं कि हमारे समय में भी जैसे हर जगह बामियान है और बुद्ध की प्रतिमा तोड़ते तालिबान हैं। बुतों के ऐसे ध्वंस पर शोक भी आसान है और तालिबानी ताकतों को पहचानते हुए उन पर कविता लिख देना भी, मुश्किल यह समझना है कि जो प्रतिमाएँ नहीं तोड़ते, वे भी एक बड़ी राजनीति करते हैं। राजेंद्र राजन अपनी पहली ही कविता में अजब सादगी से इस बात को रखते हैं- 'हमारे समय के गुनहगार / अक्सर छिप जाते हैं / किसी न किसी प्रतिमा के पीछे।'

यह सादगी कविता में कैसे-कैसे कमाल करती है, इसका सुराग उनकी कुछ छोटी कविताओं से मिलता है। 'हत्यारों का गिरोह' ऐसी ही कविता है। वे लिखते हैं- 'हत्याओं के गिरोह का एक सदस्य / हत्या करता है / दूसरा उसे दुर्भाग्यपूर्ण बताता है / तीसरा मारे गए आदमी के दोष गिनाता है / चौथा हत्या का औचित्य ठहराता है / पांचवां समर्थन में सिर हिलाता है / और अंत में सब मिलकर / बैठक करते हैं / अगली हत्या की योजना के संबंध में।'

ऐसे उदाहरण और भी हैं- और अक्सर वे इतने प्यारे हैं कि उन्हें उद्धृत करने के मोह का संवरण नहीं होता। एक छोटी सी कविता 'श्रेय' में वे लिखते हैं, 'पत्थर अगर तेरहवें प्रहार में टूटा / तो इसलिए टूटा / कि उस पर बारह प्रहार हो चुके थे / तेरहवां प्रहार करने वाले को मिला / पत्थर तोडने का सारा श्रेय / कौन जानता है / बाकी बारह प्रहार किसने किए?'

अब तक संभवतः आप समझ चुके होंगे कि राजेंद्र राजन के भीतर जो सादगी है, उसका सरलता से कोई वास्ता नहीं है। यह सादगी बस बयान की भी सादगी नहीं है। वह स्थितियों की अचूक समझ से पैदा हुई सादगी है। यह राजेंद्र राजन के लिए कविता के शिल्प का मामला नहीं है- उनके वैचारिक सांचे में ही यह सादगी है। वे बौद्धिक तौर पर बहुत चौकस व्यक्ति और विचारक हैं। समाजवाद के प्रति एक निष्कंप आस्था उनको

जैसे रास्ता दिखाती रहती है। दरअसल यह कविता वे अर्जित ही इसलिए कर पाते हैं कि विचार के स्तर पर उनका चौकन्नापन जीवन की विडंबनाओं को उनके लिए अलक्षित नहीं रहने देता, नाइंसाफ़ी और गैरबराबरी को पहचानना उनके लिए आसान बनाता है।

सबसे अच्छी बात फिर भी वही है जो सबसे पहले कही गई है। वे हर तरह की जटिलता को बहुत सहजता से व्यक्त करते हैं। वे यह भी समझते हैं कि सीधा-सादा रास्ता छोडने से पैदा हुई जटिलता जीवन को कैसे-कैसे भटकाती है। इस लिहाज से 'पश्चाताप' नाम की उनकी छोटी सी कविता बेहद उल्लेखनीय है। कविता कुछ इस तरह है- 'महान होने के लिए / जितनी ज़्यादा सीढ़ियां मैंने चढ़ीं / उतनी ही ज़्यादा क्रूरताएं मैंने कीं / ज्ञानी होने के लिए / जितनी ज़्यादा पोथियां मैंने पढ़ीं / उतनी ही ज़्यादा मूर्खताएं मैंने कीं / बहादुर होने के लिए / जितनी ज़्यादा लड़ाइयां मैंने लड़ीं / उतनी ही ज़्यादा कायरताएं मैंने कीं / ओह, मैंने यह क्या किया? मुझे तो सीधे रास्ते जाना था!'

महानता या ज्ञान जैसे पदों की व्यर्थता पर बहुत सारी कविताएं होंगी, लेकिन क्या ऐसी और कोई कविता भी याद आती है जो इतने सरल शब्दों में इन सबके बेमानीपन को रेखांकित कर सके? यह बात राजेंद्र राजन को एक विशिष्ट कवि बनाती है।

हालांकि इस वैशिष्ट्य के पहलू और भी हैं। जो लोग राजेंद्र राजन को निजी तौर पर जानते हैं, वे यह भी जानते होंगे कि कविता में ही नहीं, जीवन में भी सादगी और साफ़ दृष्टि के वे हामी रहे हैं- अक्सर कम बोलने वाले, ज़्यादातर अभिधा में ही बात करने वाले, ज़रूरत पड़ने पर अपनी दुविधाओं को मौन में भी व्यक्त कर देने वाले। फिर दुहराने की ज़रूरत है कि यह जीवन हो या दर्शन- यह सधता बहुत गहरे वैचारिक प्रशिक्षण और तीक्ष्ण संवेदनशीलता से ही है। यह अनायास नहीं है कि उनकी कविता जिन वैचारिक सूत्रों को खोलती है, उनके लिए वे अपने गुरु किशन पटनायक को भी याद करते हैं। वे बहुत सम्मान और आत्मीयता के साथ लिखते हैं- 'तुम थे हमारे समय के रडार / बताते रहे किधर से आ रहे हैं हमलावर / कहां जुटे हैं सेंधमार / कहां हो रहे हैं तुम्हारे खेतों-खलिहानों / जंगलों-खदानों के सौदे / कहां बन रहे हैं / तुम्हारे अधिकार छीनने के मसौदे / किधर से आ रही हैं घायल आवाज़ें / कहां घिरा है जनतंत्र / कहां है गरीबों की लक्ष्मी क़ैद / देखो ये रहे गुलाम दिमाग़ों के छेद।'

कहने की ज़रूरत नहीं कि किशन पटनायक नाम की वह रडार इस संग्रह में जगह-जगह दिखाई पड़ती है। राजेंद्र राजन चुपचाप उन ताकतों की शिनाख्त करते चलते हैं जिनकी वजह से हमारा समय, हमारा समाज, हमारी राजनीति, हमारा जीवन- सब प्रदूषित हैं, ज़हरीले हो चुके हैं। उनकी बहुत सारी कविताएं 'वे', 'उन्हें', 'उनके' जैसे सर्वनामों को लक्ष्य बना कर लिखी गई हैं और इन सारी कविताओं में दिखने वाली तुर्शी बहुत अलग सी है। ऐसी कविताओं में उनकी भाषा जैसे नश्तर में बदल जाती है- एक तीखा व्यंग्य सामने वाले की नसों को चीरता-तड़काता चला जाता है। 'बुखार पर्व' नाम की उनकी कविता इन पंक्तियों से शुरू होती है- 'जो फेंक दिए गए थे / इतिहास के कूड़ेदान में / आज वे घूम रहे हैं दल के दल / बजा रहे हैं धर्म का बाजा / हर सड़क हर गली में / इतने ज़ोर से कि बहरे हो जाएं कान / सुनाई न दे पड़ोस का चीखना / अपनी ही आवाज़।'

ऊपर ज़्यादा ज़िक्र राजेंद्र राजन की छोटी कविताओं का हुआ है, इसलिए ऐसे किसी भ्रम का खंडन जरूरी है कि वे सिर्फ अभिधा में कुछ काव्यात्मक सूक्तियां रच देने वाले कवि हैं। राजन के यहाँ अपेक्षया लंबी कविताएं भी हैं और उनमें कविता की वह वक्रता भी है जो हमारे समय की विडंबनाओं के जाल से गुज़र कर सच बयान कर देने के आग्रह से पैदा होती है। संग्रह की दूसरी ही कविता 'बाज़ार में कबीर' हमारे समय में बाज़ार के अतिरेक और उसकी अपरिहार्यता के डरावने वृत्तांत की तरह आती है। जिस बाज़ार में कबीर लुकाठी लेकर खड़े रहते थे, वहीं उन्हें कवि खोजने निकला है। बाज़ार आ जाता है लेकिन कबीर नहीं दिखते। बाजार लुभावनी चीज़ों से पटा पड़ा है- यहाँ हर चीज़ का एक दाम है। पानी भी किसी कंपनी का है, केले भी किसी कंपनी के हैं। कवि को खयाल आता है- 'कबीरदास होते साथ में तो शायद / सदा की अपनी व्यंग्य भरी मुद्रा में कहते / देखो कहीं हवा की दुकान भी होगी / धर्म की दुकान तो होगी ही / पैसा हो तो ख़रीदा जा सकता है सत्य भी'। यह बीच का हिस्सा है। कविता इसके आगे जाती है, कबीर इस बाज़ार में घेर लिए जाते हैं, उनसे कंपनी और ब्रांड की पूछताछ होती है और अंततः वे भी मायूस और ख़ामोश से दिखते हैं।

हमारे समय की विडंबनाओं को रेखांकित करने वाली ऐसी बड़ी कविताएं और भी हैं। 'बामियान में बुद्ध' भी कुछ लंबी कविता है जिसमें बुद्ध से बात करते हमारे सीमांत गांधी- ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ान हैं। विध्वंस के बाद के सन्नाटे में दो अलग-अलग युगों के दो व्यक्तित्वों की यह साझा याद एक वैचारिक कविता बनाती है।

इसमें शक नहीं कि राजेंद्र राजन की ज़्यादातर कविताओं का चरित्र राजनीतिक है। ऐसी कविताओं को नारा बनने से बचाने के लिए बहुत संयम की ज़रूरत पड़ती है। कई बार हम पाते हैं कि राजनीतिक कविताएं संवेदना खोकर बस पोस्टर का सामान रह गई हैं। लेकिन राजेंद्र राजन की ज़्यादातर कविताएँ इस दुर्घटना से बची रही हैं- शायद

इसलिए कि राजनीति उनके लिए सपाट किस्म की पक्षधरताओं से कहीं ज़्यादा बड़ी चीज़ है। वे मानवीय और मनुष्य-विरोधी- दोनों तरह के उपक्रमों को ठीक से पहचानते हैं- इतिहास की विडंबनाओं को भी और उसमें शामिल होने की कोशिश की व्यर्थता को भी। इतिहास पर केंद्रित उनकी दो खास़ी धारदार कविताएं इस संग्रह में हैं। 'इतिहास में जगह' नामक कविता में वे लिखते हैं- 'वे हर वक्त पिले रहते हैं / इतिहास में अपनी जगह बनाने में / सिर्फ़ उन्हें मालूम है / कितनी जगह है इतिहास में / शायद इसीलिए वे एक-दूसरे को / धकियाते रहते हैं हर वक़्त / उनकी धक्का-मुक्की / मुक्कामुक्की से / बनता है उनका इतिहास।'

व्यंग्य की इस छौंक का इस्तेमाल राजेंद्र राजन कई और कविताओं में बहुत करीने से करते दिखाई पड़ते हैं। 'बुद्धिजीवी' या 'ज्ञानी' जैसी कविताओं में उनकी चुटकी बताती है कि वे कोरे ज्ञान या निरी बौद्धिकता को एक बेमानी सी चीज़ समझते हैं। ध्यान से देखने पर यह नज़र आता है कि राजेंद्र राजन की बहुत सारी कविताओं में व्यंग्य की तीक्ष्ण धार भी है- कहीं वह गुस्से के बाद दिखती है और कहीं करुणा के बाद- अक्सर मगर दुख से लिपटी हुई जिससे यह व्यंग्य कुछ और विदग्ध हो उठता है।

कुछ कविताएं एक शृंखला में लिखी गई हैं। इनमें घोड़ों पर केंद्रित कविता शृंखला विशेष उल्लेखनीय है। बस संदर्भ के लिए याद किया जा सकता है कि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने तेंदुए के बिंब के साथ जिन राजनीतिक आशयों की कविता लिखी, एक बदले हुए समय में कुछ बदले हुए आशयों के साथ लगभग वैसी ही प्रभावशाली कविताएं राजन ने भी घोड़े के बिंब के सहारे लिखी हैं। ये कविताएं बताती हैं कि राजन ज़रूरत पड़ने पर अपनी कविता के लिए नए मुहावरों के इस्तेमाल में हिचक नहीं दिखाते।

निश्चय ही यह संग्रह इस दौर की उपलब्धि है। जब बौद्धिकता पर लगातार चोट जारी हो, जब इतिहास के साथ एक अबौद्धिक छेड़छाड़ सत्ता प्रतिष्ठान की संस्कृति बन चुकी हो, जब एक बारीक़ क़िस्म की क्रूरता पूरी व्यवस्था का चिकना हिस्सा बनती जा रही हो, जब झंडाबरदारी मूल्य हो, जब विजेता के साथ खड़े होना ही इकलौती नैतिकता हो, जब बाज़ार ही एकमात्र सभ्यता हो, जब देशभक्ति को इकलौती शक्ति बना दिया जाए तब इस पूरे विद्रूप के खिलाफ़ प्रतिरोध का स्वर रचती ये कविताएं हमारे लिए एक धरोहर हैं जो हमारा छीजता हुआ मूल्यबोध हमें लौटाती हैं। हिंदी कविता से लगातार दुरूह और अपठनीय होने की शिकायत करने वाला समाज पा सकता है कि ये कविताएं सरल भी हैं, सहज भी, पठनीय भी और बहुत सारे अर्थों से भरी हुई भी। बस अंत में काला टीका लगाने के लिए यह कहना जरूरी लगता है कि संग्रह की कुछ कविताओं में जो अनुशासन चाहिए था, वह नहीं दिखता है तो हल्की सी निराशा होती है- मगर फिर भी अपने पूरे प्रभाव में यह संग्रह बार-बार पढ़े जाने का आग्रह करता है। मूलतः अपने सामाजिक-राजनीतिक समय और सरोकारों को संबोधित करती इन कविताओं के बीच जब कुछ आत्मीय और निजी संस्पर्श मिलते हैं तो राजेंद्र राजन की कविता कुछ और खिल उठती है- यह समझ में आता है कि उनके पास संवेदना का जल भी है और उसे अभिव्यक्त करने का शिल्प भी। लेकिन इन दोनों से बड़ी बात कविता में खुद को अनुस्यूत कर देने की समझ है। 'जहाँ चुक जाते हैं शब्द' इस लिहाज से एक पठनीय कविता है। कवि लिखता है- 'शब्दों में शब्द जोड़ते / मैं वहां आ पहुंचा हूं / जहां और शब्द नहीं मिलते / मैं क्या करूं / अब मैं कैसे लिखूं / समय के पृष्ठ पर / अपनी सबसे ज़रूरी कविता? / शब्दों में शब्द जोड़ते / जहां चुक जाते हैं शब्द / मैं क्या करूं ?/ क्या मैं वहीं खुद़ को जोड़ दूं ?/ मगर / क्या अपने शब्दों जैसा मैं हूं ?'

अपने ऊपर भी यह संशय वह मूल्य है जो कवि को कुछ अलग बनाता है।

●

समीक्षा

मार्मिक भाषा में मर्मस्पर्शी कहानियां

राजेश प्रसाद

राग-विराग और अन्य कहानियां शर्मिला जालान की सत्रह कहानियों का नवागत संग्रह है। प्रायः सभी कहानियों में लेखिका पात्रों के अवचेतन तक जाती है और उनकी संवेदनाएं पाठकों तक अंतरित कर देती है। संग्रह की सभी कहानियां बाह्य संसार में घटित होने के साथ-साथ मन में भी घटित होती हैं और पठनीयता की दृष्टि से सफल हैं।

'फासला' घर और परिवार में आई रिक्तता, उत्कट प्रतीक्षा और नयी पीढी के मन में पुरानी पीढी के प्रति भावात्मक लगाव के लोप के साथ-साथ औपचारिक होते जा रहे संबंधों की कहानी है। यह अचानक ही शुरू हो गए दुरूस्वप्न की तरह पाठक के मन पर छा जाती है। 'समझ' की नायिका सुषमा ने अपने परिवार और समाज में बहुत कुछ सकारात्मक महसूस

किया होगा, पर जो बात उसके मन में हलचल मचाती है, वह है - पुरुष की लम्पटता। यह राजू अंकल में है। राह चलते सुषमा के पिता को जब एक अनजान औरत गाली देती है तो सुषमा के समक्ष पुरुष की यह अनिवार्य बुराई स्पष्ट हो जाती है। इसके ठीक विपरीत 'इकतारा' कहानी पुत्री के मन में पिता के प्रति भावावेग की कथा है। जब पिता संतान के लिए एक अनिवार्य मौजूदगी बन जाता है।

नायिका के मन में चल रहे एकालाप की कथा है-राग-विराग। वह हताशा और निराशा के बाह्यान्तारिक वातावरण में अपने होने का अर्थ तलाशने का प्रयास करती है।

शर्मिला की कहानियों में वातावरण पाठकों की संवेदना का विषय बन जाता है, ये उनकी रुग्ण पात्रों से जुड़ी कहानियों से स्पष्ट है। 'प्रार्थना' कहानी मरणान्तक रोग के साथ-साथ जीवन के अन्य अनिवार्य चिंताओं के साथ चलने की कहानी है। ऐसे ही रुग्ण माहौल की कहानी है-'औरत', जिसमें लेखिका ने स्पष्ट किया है कि एक औरत दूसरी औरत की पीड़ा से निस्संग नहीं रह सकती। 'एक अलग उजास में' मरणासन्न माँ अपने परिवार के सदस्यों और धन-संपदा के भार से एक क्षण में एकाएक मुक्त हो जाती है जैसे उसे जगत मिथ्या का बोध हो गया हो। हम मृत्यु से जितने आतंकित रहते हैं शायद वह उतनी बुरी भी नहीं है। इसी अहसास ने माँ से तीसरे मृत्यु-पत्र में लिखवाया- 'जीवन निर्बाध गति से बह रहा है, उसकी ध्वनि सुनिए, प्रसन्न रही।'

शर्मिला जालान स्त्रीवादी नहीं हैं। उनकी किसी कहानी में इसकी स्थापना का कोई प्रयास नहीं है, पर 'बारिश में कॉफ़ी' में आदिम युग से चले आ रहे पुरुष-वर्चस्व का संकेत अवश्य है। तनाव से मुक्ति और सांत्वना की चाह में मंजरी जिस पुरुष के साथ कॉफ़ी पीने जाती है, जब वही स्त्री-जाति पर टिप्पणी करता है तो मंजरी की प्रतिक्रया से चौंकाने वाली है। पाठक प्रेम के जिस पदचाप की अपेक्षा करता है, वह एकाएक तिरोहित हो जाती है। मंजरी पुनः महानगर में रहने वाली कोई अनजानी-सी स्त्री बन जाती है। 'अपना-सा एकांत' की नायिका अपने एकांतिकता में भी सुख का अहसास पाने की कोशिश करती है, एक अज्ञात-अनजाने से स्रोत से। महादेवी का रहस्यवाद शायद कुछ ऐसा ही है। खलील जिब्रान की उक्ति याद आती है-'सर्वाधिक सुखी (प्रेमी) वे होते हैं, जो कभी नहीं मिलते।'

'परिवेश' कहानी में एक तरफ नायिका का परिवेश है, जिसने उसे बनाया है, दूसरी तरफ उस विद्यालय का परिवेश है, जहां उसके सुनिर्मित व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं है। अध्यापक अब गुरु नहीं है, वह स्कूल प्रशासन के अधीन एक वेतनभोगी सेवक है, जिसका काम निर्धारित पाठ्यक्रम निर्धारित विधि से निर्धारित समय में पढ़ा देना भर है। यह विडम्बना इस कहानी में भली-भांति उभर कर आती है। समाज बुद्धिजीवी वर्ग को भी अपनी तरह बनाने की चेष्टा में बहुधा सफल होता है। लेखिका भाषा-ज्ञान की अपूर्णता से चिंतित है।

'चारुलता' क्षण-क्षण प्रेम की उमंग महसूस करने वाली लड़की की कहानी है। जीवन के सभी पड़ावों पर हम अक्सर आकर्षण और आकर्षणजनित भावुकता के शिकार होते हैं, इसे कहानी की नायिका के माध्यम से लेखिका ने अत्यंत रोचक शैली में उभारा है। कहानी में हास्य का पुट मंटो और कृशन चंदर की लेखन शैली की याद दिलाता है।

बाह्य और आतंरिक दबाव किस तारा लेखिका को लिखने के लिए विवश करता हैए इसे शर्मिला जालान की कहानियों में महसूस किया जा सकता है। मन के 'अमूर्तों' को मूर्त कर देने की सरल-सहज-शिष्ट भाषा उनके पास है। पाठक उनके पात्रों से सहजता से जुड़ जाता है। व्यक्ति और समाज के छिपे अवचेतन कोने-अंतरे उनके कहानियों में क्षणभर के लिए चमक जाते हैं। कहानियों में रुचि रखने वाले पाठकों को यह संग्रह अवश्य पढ़ना चाहिए।

पुस्तक : राग-विराग और अन्य कहानियां
लेखिका : शर्मिला जालान
प्रकाशक : वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर
संस्करण : 2018, मूल्य : 280/-

सम्मेलन-रिपोर्ट

अंग्रेजी के कारण भारतीय भाषाओं का अस्तित्व खतरे में

अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन की स्वर्णजयन्ती वर्ष पर सम्मेलन

23 मार्च 2018 को सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पाणिनी सभागार में अंग्रेजी हटाओ, भारतीय भाषा बचाओ सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में देश भर से आए लगभग 250 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। सम्मेलन दो सत्रों में सम्पन्न हुआ।

सम्मेलन के प्रथम सत्र में मुख्य अतिथि श्री प्रसन्ना ने अंग्रेजी को व्यापारी-भाषा बताते हुए कहा कि अंग्रेजी यंत्र-सभ्यता से जुड़ी है। इसको हटाने का एक ही माध्यम है कि यंत्र-सभ्यता के बारे में हमारी जो समझ है, उसे हम बदलें और उस पर विचार करें। इसके लिए हमें हाथ से काम करने वालों के साथ जुड़ना चाहिए। मैं हाथ से काम करने वालों के साथ हूँ और उनका सहयोग कर रहा हूँ।

कन्नड़ के प्रसिद्ध रंगकर्मी श्री प्रसन्ना ने अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहा कि हमें महात्मा गाँधी की जीवन-शैली को आत्मसात करना है। यंत्र-सभ्यता को तोड़ना और उसकी अच्छी चीजों को ग्रहण करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। यंत्र-सभ्यता का दंश तभी हल होगा जब हम नयी सभ्यता विकसित करें।

श्री प्रसन्ना ने कहा कि बुनकरों ने हस्तनिर्मिति कला का जो आन्दोलन चलाया, कर्नाटक में वह चल रहा है। उससे ज्ञान का विस्तार भी हो रहा है और मातृभाषा-संस्कृति भी विकसित हो रही है। कन्नड़ फ्लैग एक मजबूत आन्दोलन है। वहाँ कन्नड़ तरुण-समितियाँ बनी हैं। संस्कृति के साथ भाषा का सम्बन्ध है। कर्नाटक में लिंगायत आन्दोलन कन्नड़ में लिखने का आन्दोलन है। कन्नड़ में काफी काम हुआ है, इसके पीछे कई आन्दोलन हैं।

सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए प्रसिद्ध शिक्षाविद् और वैज्ञानिक प्रो0 अनिल सद्गोपाल ने कहा कि अंग्रेजी हटाने का विचार सही है किन्तु महत्वपूर्ण यह है कि हमारे इस विचार में कितनी ताकत है और हम उस पर कितना भरोसा करते हैं। प्रो. सद्गोपाल ने भारतीय भाषाओं के आपसी कलह पर चिन्ता जताई और उसका हल भगत सिंह के 1924 में लिखे पंजाबी भाषा पर एक लेख के माध्यम से प्रस्तुत किया। ज्ञातव्य है कि भगत सिंह का यह लेख पंजाबी भाषा के स्वरूप पर छिड़े एक विवाद से जुड़ा है कि पंजाबी में अरबी-फारसी के शब्द लाना ठीक है या संस्कृत के शब्दों को स्वीकार करना अर्थात् पंजाबी हिन्दी के निकट रहे या उर्दू के।

प्रो0 अनिल सद्गोपाल ने कहा कि उ.प्र. सरकार का वह निर्णय खतरनाक है जिसके तहत वह अंग्रेजी माध्यम के पाँच हजार प्राथमिक विद्यालय चलाने जा रही है। उन्होंने सुझाव दिया कि जहाँ जहाँ वे विद्यालय चलाने जा रही है वहाँ-वहाँ हमें सभा करनी चाहिए और समाज को बताना चाहिए कि इन विद्यालयों का वास्तविक उद्देश्य अंग्रेजी सिखाना नहीं, गरीब बच्चों को शिक्षा से विमुख करना है। उत्पीड़ित जातियों के बच्चे यहाँ पुस आउट होंगे। प्रख्यात शिक्षाविद् ने कहा कि मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा से हिम्मत आती है। यह शिक्षा मुक्ति की शिक्षा बनती है और अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा गुलामी की शिक्षा है। अपने विद्यार्थी जीवन की एक घटना का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि अपनी कक्षा में मैं इकलौता विद्यार्थी था जो हिन्दी माध्यम से पढ़कर आया था। आश्चर्य यह कि मैं अकेला विद्यार्थी था जो कक्षा में प्रश्न पूछता था और दूसरे विद्यार्थी मेरी हिम्मत की तारीफ करते थे। प्रो. सद्गोपाल ने बताया कि कैसे हिन्दी माध्यम से पढ़ना मेरी पूरी शिक्षा-यात्रा में कारगर साबित हुआ।

प्रो0 सद्गोपाल ने कहा कि ज्ञान की गठरी हम अपनी भाषा में ही खोलते हैं। अंग्रेजी ने अपनी खिड़की खोल रखा है। वह दूसरी भाषाओं के शब्द-भण्डार से नये-नये शब्द लेती जा रही है। आप अपना दरवाजा बन्द मत करिए। अंग्रेजी से सबक लीजिए कि कैसे हमें अपनी भाषा को समृद्ध करना है। हमें दुख है कि आज का युवा कोई भाषा नहीं जानता। कम बजट वाले निजी स्कूल जिसमें दलित, आदिवासी और मुस्लिम लड़के-लड़कियाँ पढ़ते हैं, उनकी दशा देखिए। उनकी शिक्षा का स्तर क्या है? इस पर चिन्ता करने की जरूरत है। पाँच हजार साल का इतिहास हमारे सामने है। सत्ता की भाषा जनता की भाषा से अलग रखी गयी है। आज भी ऊपर का सारा कामकाज अंग्रेजी के हिस्से है। नौकरशाहों ने यह भ्रम फैला रखा है कि अंग्रेजी ज्ञान-विज्ञान की भाषा है। आजादी के 70 साल में भारतीय भाषाओं ने आवाज उठाई है। भाषा के मोर्चे खुले हैं फिर भी हमारी कसमें टेढ़ी हैं। सत्तावर्ग का सांस्कृतिक पूँजीवाद एक बड़ी चुनौती है। अंग्रेजी का शिक्षा-माध्यम व्यापारिक बन गया है जो बहुत भयावह है।

प्रो0 सद्गोपाल ने अपना व्याखान प्रतिनिधियों को लाल सलाम करते हुए शुरू किया और अपने जीवन के अनुभवों के साथ-साथ भाषा पर हुए शोध के निष्कर्षों को भी साझा किया।

अखिल भारतीय भाषा संगठन के श्यामरुद्र पाठक भी सम्मेलन में बतौर वक्ता उपस्थित हुए। उन्होंने प्रतिनिधियों से कहा कि बहुत अधिक माँग रखने की जरूरत नहीं है। हमें सरकार से इतना ही कहना है कि अंग्रेजी थोपना बन्द करो। अंग्रेजी की अनिवार्यता हटाओ, उन्होंने सरकार से सवाल पूछा कि जो भाषा नीति आई ए एस की परीक्षा के लिए है वही एस एस सी की परीक्षा के लिए क्यों नहीं है। एस एस सी में अंग्रेजी की अनिवार्यता है और उसे 62.5 प्रति अधिभार है जबकि दूसरे

विषयों को केवल 37.5 प्रतिशत अधिभार है। पाठक ने माँग की कि कैट से अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी माध्यम दोनों हटाये जाँय। उन्होंने कहा कि विकास के अवसरों में समानता होनी चाहिए और भाषिक नीति बदल जाय तो अंग्रेजी माध्यम के स्कूल बन्द हो जाएँगे। रोजगार से अंग्रेजी को जोड़कर उसको व्यापारिक रूप दिया गया है। संविधान अंग्रेजी का संरक्षण करता है। मेरा बस चले तो संविधान में आग लगा दूँ। तिरंगा जला डालूँ। प्रतिभा का खजाना यह देश इस संविधान के कारण विपन्न बना हुआ है क्योंकि प्रतिभाएँ यहाँ से पलायन कर जाती हैं।

डॉ. पाठक ने कहा कि जिस देश में इतनी भी आजादी न हो कि कोई काम भारतीय भाषाओं में कर सके तो वह देश कैसे विकास करेगा? स्थिति तो यह है कि यहाँ हम अपनी भाषा में फरियाद भी नहीं कर सकते। उच्च शिक्षा में प्रवेश के लिए अंग्रेजी जरूरी है और 27 में से 20 उच्च न्यायालयों में अंग्रेजी की अनिवार्यता है।

आयोजन समिति के सदस्य डॉ0 सुनील सहस्त्रबुद्धे ने अपने सम्बोधन में कहा कि अंग्रेजी हटाने की लड़ाई सही भारत बनाने की लड़ाई है। वैसे भाषा की लड़ाई में हम बहुत पीछे रह गए हैं। उन्होंने कहा कि यह समझने की जरूरत है कि अंग्रेजी को उच्चशिक्षा का जो माध्यम बनाया गया है, उसका आधार क्या है? भारतीय समाज अंग्रेजी के साथ एक नकलची समाज बन गया है। अपनी भाषा के साथ उच्च शिक्षा पाने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है। जो भाषा दूसरे की है उसमें हम आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त नहीं कर सकते। यहाँ तक कि संस्कृत के पाठ की भी हम टीका खोजते हैं ताकि अपनी भाषा में उसे सोच सकें। ज्ञान-संवाद अपनी भाषा में ही सम्भव है। अपनी भाषा में ही दिमाग काम करता है।

डॉ0 सहस्त्रबुद्धे ने कहा कि सरकार ने त्रिभाषा-सूत्र का सही प्रयोग नहीं किया। वह कभी इसके प्रति ईमानदार नहीं रही। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में इसे लागू करके भारतीय भाषाओं का संवर्धन किया जा सकता था। हिन्दी-संस्कृत को चोर दरवाजा बनाकर उत्तर भारतीय अंग्रेजी पढ़कर त्रिभाषी बनते रहते हैं।

सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए प्रो0 आनन्द कुमार ने सन् 1967 के उन दिनों की याद किया जब अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन एक तूफान बनकर उठ खड़ा हुआ था। प्रो0 कुमार इस आन्दोलन के सहयात्री थे। उन्होंने इस आन्दोलन के महत्वपूर्ण नायकों को याद किया और कहा कि हम यह लड़ाई मीरजाफरों के कारण हारे। उन्होंने वर्तमान पीढ़ी से संवाद करते हुए कहा कि आप हमारी निराशा से घबराना मत। हमने जो आधा-अधूरा करके छोड़ा है उसे आप पूरा करके छोड़ना। शिक्षा पर आज अंग्रेजी का आतंक है जबकि देश की गाड़ी देशी भाषाओं के कारण चल रही है।

प्रो0 आनन्द कुमार ने कहा कि भाषा का अपना अर्थशास्त्र है, अपनी राजनीति है, अपनी संस्कृति है और अपना समाजशास्त्र है। विडम्बना यह है कि अलग-अलग विचारधाराओं के लोग भाषा को अपने नजरिए से देखते हैं। वे भाषा-आंदोलन को स्वराज आन्दोलन के रूप में नहीं देखते हैं और जहाँ तक मार्क्सवादी क्रान्ति का स्वप्न है वह तो अंग्रेजी से शुरू होकर अंग्रेजी पर ही खत्म होती है। हमारे देश में 27% पिछड़ों और 25% दलितों के लिए आरक्षण है। जो इस वर्ग की राजनीति कर रहे हैं वे इनकी भाषा का नहीं, अंग्रेजी का स्वप्न दे रहे हैं। राममनोहर लोहिया पिछड़ों और दलितों की भाषा में राजकाज के लिए लड़ रहे थे। बांग्ला में संसद में भाषण करने वाले वे पहले वक्ता थे।

अपने वक्तव्य में प्रो0 आनन्द ने धारवाड़ और बी.एच.यू. से जुड़े अनेक संस्मरण सुनाए और कहा कि सत्ता के शिखर पर घोघा बसंत बैठे हैं। उन्होंने पूछा कि सत्ता वर्ग उत्तर भारत को कैसे पहचानता है और खुद उत्तर दिया कि गाँव के गोबर की तरह। प्रो0 आनन्द ने इस आन्दोलन के प्रति हृदय से समर्पित होने की अपील और 50 साल पहले के नारों की याद दिलायी।

अध्यक्षता करते हुए प्रो0 जोगा सिंह विर्क ने कहा कि भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी में शिक्षा देने में आने वाले खर्च का अनुपात 1 और 5 है। सन् 1990 से अंग्रेजी को बढ़ाने का कारण निजीकरण को बढ़ाना है। केवल शिक्षा का माध्यम बदल देने से हमारा लाखों करोड़ बचेगा। अंग्रेजी हमारे ऊपर न केवल बोझ है अपितु इसके रहते हम मौलिक ज्ञान का विकास कर नहीं सकते क्योंकि वह अपनी ही भाषा में सम्भव है।

प्रो0 सिंह ने कहा कि अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा को जितना नुकसान पहुँचाया उतना नुकसान किसी और ने नहीं किया। कार्पोरेट जगत और शिक्षा माफियाओं ने देश की शिक्षा प्रणाली पर गहरा आघात किया है। भारतीय भाषा को पतन के रास्ते पर ले जाने में भारतीय राजनीति का अहम् रोल है।

सम्मेलन के आरम्भ में डॉ0 विजयशंकर पाण्डेय ने अतिथियों का स्वागत किया। पश्चात् लोलार्क द्विवेदी द्वारा संपादित सम्मेलन की स्मारिका 'भाषा-बोली' का लोकार्पण हुआ और स्मारिका सभी प्रतिनिधियों को उपलब्ध करायी गई। सत्र का संचालन अफलातून ने किया और धन्यवाद-ज्ञापन विजेन्द्र मीणा ने किया।

सम्मेलन के दूसरे सत्र की अध्यक्षता विजयनारायण ने की। इस सत्र में सम्मेलन के प्रस्तावों पर विचार-विमर्श किया गया और भावी कार्यक्रम की रूपरेखा तय की गई। सम्मेलन के प्रस्तावों को डॉ0 स्वाती ने पढ़ा और पटना, गोरखपुर, दिल्ली, मऊ से आये प्रतिनिधियों ने उस पर अपने विचार रखे। साहित्यकार नीरजा माधव भी प्रस्तावों पर बोलीं। सम्मेलन में आयोजन समिति के सदस्यों- योगन्द्रनारायण, महेश विक्रम, राजेन्द्र चौधरी, लोलार्क द्विवेदी, विजेन्द्र मीणा, अफलातून आदि के अलावा दैनिक देशबन्धु की सम्पादिका सुरजन, एस.एन. ठाकुर, चित्रा सहस्त्रबुद्धे, नीता चौबे, हर्षवर्द्धन, केशरी नारायण, नागेन्द्र वारिद, शिवेन्द्र आदि ने हिस्सा लिया। ●

श्रद्धांजलि

प्रोफेसर केशव राव जाधव : आदर्शवादी समाजवादी नेता नहीं रहे

वरिष्ठ समाजवादी नेता एवं चिंतक केशव राव जाधव अब हमारे बीच नहीं रहे। वे ८६ वर्ष के थे।17 जून को सुबह साढे दस बजे हृदयाघात से वे इसे फानी दुनिया से कूच कर गये। वे समाजवादी जन परिषद के संस्थापक उपाध्यक्षों में से एक थे। आंध्र प्रदेश व तेलंगाना में मानवाधिकार के हक में लड़ने वाले लोक स्वातंत्र्य संगठन के वे अग्रणी नेता थे। ओस्मानिया विश्वविद्यालय में वे अंग्रेजी के प्रोफेसर थे तथा अवकाश प्राप्ति के समय एकेडेमिक स्टाफ कॉलेज के निदेशक थे।

वे एक प्रखर लेखक ,ओजस्वी वक्ता, उर्जावान एवं कारगर संगठनकर्ता थे। वे तेलुगु, हिंदी, उर्दू तथा अंग्रेजी में समान अधिकार के साथ कविता व लेख लिखते थे। तेलंगाना राज्य की स्थापना के लिए चले आंदोलन के वे प्रमुख नेताओं में एक थे। इस आंदोलन के लिए उन्होंने तेलंगाना जन परिषद नामक मंच बनाया था। मृत्युपर्यंत वे एक आदर्शवादी राजनैतिक कर्मी बने रहे।भारत के समाजवादी आंदोलन की तीसरी पीढ़ी के वे सर्वाधिक महत्वपूर्ण युवा नेताओं में से एक थे। समाजवादी युवजन सभा के किशन पटनायक के तुरंत बाद वे राष्ट्रीय अध्यक्ष बने थे। डॉ. लोहिया की मृत्यु के बाद सोशलिस्ट पार्टी का शीर्ष नेतृत्व हांलाकि गुटबाजी का शिकार होकर दिशाहीन हो रहा था फिर भी युवजनों ने उर्जा एवं गतिशीलता नहीं गंवाई थी। केशवरावजी के नेतृत्व में समाजवादी युवजनों ने जाति तोड़ो और भारतीय भाषाओं के लिए जुझारू आंदोलन छेड़े थे। बेरोजगारी और सांप्रदायिक सद्भावना के लिए भी समाजवादी युवजन सक्रिय हुए थे। केशव रावजी के सयुस के राष्ट्रीय अध्यक्ष के कार्यकाल में वैचारिक स्पष्टता के साथ संगठन का फैलाव हुआ था।

केशवजी छात्र-जीवन में ही सोशलिस्ट पार्टी से जुड़ गये थे।जल्द ही वे एक उर्जावान, दूरदृष्टि वाले कार्यकर्ता बन गये। डॉ. लोहिया तब समाजवादी आंदोलन के अग्रणी थे और केशवजी ने लोहिया के विचारों के अनूठेपन और महत्व को पहचान लिया। छात्र जीवन से ही वे लोहिया के तगड़े साथी बन गये। लोहिया ने हैदराबाद में ही सोशलिस्ट पार्टी का राष्ट्रीय कार्यालय बनाया तथा अपनी पत्रिकाओं (जन तथा मैन्काइंड) का प्रकाशन भी वहीं से शुरू किया था।

1977 में आपातकाल लादने वाली कांग्रेस को परास्त करने के लिए अलग-अलग विचारधाराओं वाले कई दलों ने मिलकर जनता पार्टी का गठन किया।सोशलिस्ट पार्टी भी इन दलों में एक थी। केशव राव जी ने तब अपने सोशलिस्ट साथी मधु लिमये, राजनारायण, कर्पूरी ठाकुर, जॉर्ज फर्नांडीज आदि के पाले में ही रहने का निर्णय लिया। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा जनता पार्टी की दोहरी सदस्यता के सवाल पर जब जनता पार्टी टूटी तब वे चरण सिंह के नेतृत्व में लोकदल में अपने इन पुराने साथियों के साथ बने रहे। आंध्र प्रदेश की मेदक संसदीय सीट से पूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के विरुद्ध वे लोकदल उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़े।

इस चुनाव के बाद ही केशवराव जी का पुराने सोशलिस्टों के शीर्ष नेतृत्व के प्रति उनका मोह-भंग शुरू हुआ। 1973 - 74 के दौरान किशन पटनायक, इंदुमति केलकर, राम इकबाल बरसी तथा ओमप्रकाश दीपक जैसे नेताओं के साथ केशव राव जी ने लोहिया विचार मंच के गठन में मुख्य भूमिका अदा की। इन सभी नेताओं का मधु लिमये तथा राजनारायण के नेतृत्व में बनी दो गोलबंदियों में यकीन नहीं था। इस प्रकार केशवराव जी जनता पार्टी की धारा से निकले दलों से पूरी तरह से मुक्त हो गये।

उन्होंने भारतीय सोशलिस्ट पार्टी नाम से एक पार्टी के गठन में पहल की। 1987 में केरल में आयोजित लोहिया विचार वेदी के राज्य-स्तरीय शिविर में भाग लेने वे आए थे। उस वक्त से उन्होंने अपनी पार्टी से हमें जोड़ने का प्रयास किया। केरल की

लोहिया विचार वेदी से जुड़े ज्यादातर लोग जनता पार्टी के अनुयायी थे तथा किसी आदर्शवादी पार्टी से जुड़ने के प्रति उन्हें संकोच था। पी.वी. कुरीयन तथा समता विद्यार्थी संगठन से जुड़े हमारे जैसे कुछ युवा एक सोशलिस्ट पार्टी बने, यह चाहते थे। यही वह वक्त था जब केशव रावजी से मेरा निकट संपर्क बना। समता विद्यार्थी संगठन के हमारे कई कार्यक्रमों में वे शामिल हुए। इस बीच भारतीय सोशलिस्ट पार्टी ने कुछ अन्य समाजवादियों के साथ मिलकर सोशलिस्ट पार्टी लोहिया का गठन किया। इस पार्टी के ज्यादातर लोग पुराने समाजवादी थे तथा केशव राव जी के अलावा इनमें से किसी में युवाओं को आकर्षित करने का माद्दा नहीं था।

यह वक्त था जब केशव राव जी ने जनता पार्टी अथवा उससे छिटके समूहों के समाजवादियों को एक करने की पहल की तथा समाजवादी समन्वय समिति का गठन किया। केरल के समता विद्यार्थी संगठन से जुड़े हम तरुण कार्यकर्ता भी इस समन्वय के हिस्सा थे। इस समन्वय द्वारा 1990 में दिल्ली के बोट क्लब में एक रैली का आयोजन किया गया जिसमें विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार से अन्य पिछड़े वर्गों के लिए गठित मंडल आयोग की सिफारिशें लागू करने की माँग की गई। हमने भी इस रैली में भाग लिया।

हम, समता विद्यार्थी संगठन के युवाओं का केशवजी और किशनजी दोनों से बहुत अच्छा संबंध था। फिर हम जनांदोलन समन्वय समिति (जसस) का हिस्सा बने। इस समन्वय में किशनजी के नेतृत्व वाले समता संगठन की अग्रणी भूमिका थी। जमीनी स्तर पर जन आंदोलनों को खड़ा करने में यह समन्वय लगा था इसलिए समाजवादी आंदोलन को एक नई दिशा देने का इसमें माद्दा था। हम जसस के साथ मजबूती से जुट गए।

किशन पटनायक तथा समता संगठन का 'पुरानी समाजवादी कारगुजारियों' के प्रति अनुत्साहजनक रवैया था। पुराने समाजवादी आंदोलन के प्रति विरही भाव रख कर प्रासंगिक विचारधारा एवं कार्यक्रम वाली नई राजनैतिक शक्ति के निर्माण में कोई मदद नहीं मिलेगी यह मान्यता थी। रवैए में इस फर्क के बावजूद हमने केशव रावजी से भी निकट संपर्क बनाए रखा। इसलिए जब जसस द्वारा वैकल्पिक राजनीति के औजार के रूप में एक नये दल के गठन का फैसला हुआ तब केशव राव जी इस प्रक्रिया के हिस्सा बने तथा सामयिक संदर्भों में प्रासंगिक नई राजनीतिक संस्कृति के लिए चर्चा / बहस के बाद 1 जनवरी 1995 को समाजवादी जन परिषद का गठन हुआ।

इस दल की स्थापना के समय किशन पटनायक, केशव राव जाधव तथा पूर्व विधायक व वरिष्ठ समाजवादी साथी विष्णुदेव गुप्त उपाध्यक्ष बने थे। सच्चिदानंद सिन्हा इन दोनों के अलावा एक ऐसा नेता हैं जो वैचारिक योगदान देते रहे तथा जिनके प्रति पार्टी में आदरभाव है, उन्होंने नवगठित दल में कोई पद लेने से इंकार कर दिया था। केशव जी ने हैदराबाद में कई बैठकें व कार्यक्रम आयोजित किए तथा वे केरल में आयोजित कार्यक्रमों में भी हिस्सा
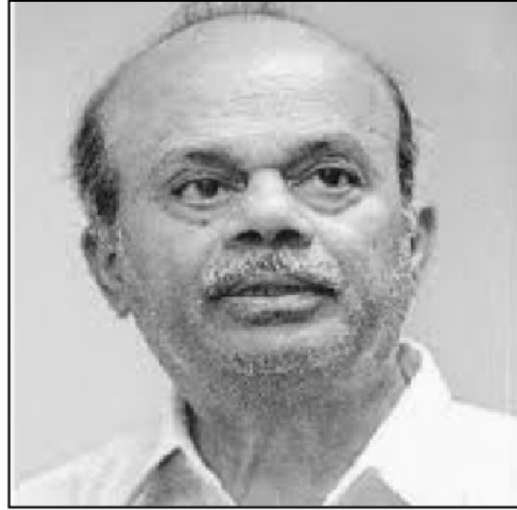
लेते थे। जुलाई 1995 में कोट्टायम, कोझिकोड़ तथा वड़गरा में आयोजित पी. वी. कुरियन स्मृति व्याख्यानमाला की स्मृति मेरे मन में विशेष रूप से अंकित है। इस बीच जन आंदोलनों का राष्ट्रीय समन्वय (एन ए पी एम) के रूप में जन आंदोलनों का एक व्यापक मंच भी बना जिसमें स्वयंसेवी संस्थाओं (एन जी ओ) से जुड़े लोग भी थे। यह शर्त जरूर थी कि एन जी ओ से जुड़े व्यक्ति समन्वय के पदाधिकारी नहीं बन सकेंगे। यह शर्त समाजवाद की नई धारा से जुड़े समाजवादियों की पहल पर लागू हुई। 1996 में एन ए पी एम का एक राष्ट्रीय सम्मेलन हैदराबाद में आयोजित हुआ था।उसी मौके पर केशवजी ने समाजवादी जन परिषद के बारे में बताने के लिए बुद्धिजीवियों के बीच एक कार्यक्रम आयोजित किया। सजप की तरफ से इस मौके पर किशन पटनायक,डॉ. स्वाति तथा सुनील बोले।

केशव जी सतत सक्रिय अनथक चलने वाले व्यक्ति थे। बाबूराव और उनके पुत्र राजेश जैसे साथियों के साथ वे कई बार मेरे घर टिके थे। केशव राव जी की डॉ. लोहिया के प्रति अटूट, असीमित श्रद्धा थी तथा पुराने समाजवादी आंदोलन की खुमारी भी उनके मन पर छाई रहती थी। इन आदर्शों और विचारों के प्रति वे दृढ़ प्रतिज्ञ थे। ऐसा होने के बावजूद समाजवादी आंदोलन के सत्ताकामी नेताओं द्वारा झूठे आचरण का भी उन्हें स्पष्ट अहसास था।

उनकी मृत्यु से पैदा हुए शून्य को भरा नहीं जा सकता है। उनके लेख तथा संघर्ष आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरक रहेंगे। उनकी दुखद मृत्यु पर मैं अपनी गहरी श्रद्धांजलि व्यक्त करता हूँ। उनके प्रेम का मैं भागी बन सका। उन्होंने अपनी पत्रिकाओं ओलिंपस तथा टुवड्र्स अ बेटर मैनकाइंड के संपादक मंडल में मुझे स्थान दिया। **–जोशी जेकब**

समाजवादी जन परिषद,16.6.2018

●

विचारों के वेणुवन में राजकिशोर

प्रिय हरिमोहन जी,

राजकिशोर के बारे में सोचते हुए वेणुवन से मुट्ठी भर सूखी पत्तियाँ उठाते बुद्ध याद आते हैं। बुद्ध तब तक प्रौढ़ हो चुके थे। यह उनके महानिर्वाण के थोड़े दिन पहले की बात है। आनन्द जो उनके बड़े भाई भी थे और पट्टशिष्य भी, लगातार उनके साथ लगे रहते– तरह-तरह के प्रश्न पूछते हुए! ग्रीष्म में दोपहर थी। बहुत लम्बा सफर था। स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता था अब तो इसकी भी तैयारी थी कि कोई भी दिन जीवन का अन्तिम दिन हो सकता है। धीरे से आनन्द से पूछा— ''जीवन भर मैं आपसे प्रश्न पूछता रहा। सारी जिज्ञासाएँ शांत थीं। क्या सृष्टि के कुछ और भी रहस्य हैं जिनके बारे में जानना शेष है अभी?''

चलते-चलते बुद्ध ठहरे। गौर से आनन्द का चेहरा देखा और क्षीण स्मित के साथ जमीन पर पड़े कुछ सूखे पत्ते मुट्ठियों में भींच लिए, फिर धीरे से कहा— ''आनन्द, जीवन-जगत् की बृहत्तर गुत्थियों में से अभी हमने इतनी ही चर्चा की है जितनी पत्तियाँ एक मुट्ठी में समायी दिखाई देती हैं।''

चिंतक के प्रति एक विनम्र समदुखभोगी जिज्ञासु के होते हैं। मेरा मन जब वैयक्तिक या सामाजिक प्रश्नों के घटाटोप से घिरता, मैं विश्व की कालजयी कृतियों के साथ इनकी भी किताबें पलटती और जहाँ-तहाँ से लगती जोर-जोर से पढ़ने! यह मेरा टोटका था, अभी है। मन किसी घटना पर उद्विग्न हो गया तो जब-तक घर में लोग जगे रहते हैं, तब तो वहीं, पर रात में एकान्त घिरते ही उन सब लेखकों और चिंतकों के साथ एक कल्पित वेणुवन में टहलने निकल जाती हूँ जिनकी किताबें तकिए के नीचे दबायी हों कभी किसी के साथ, कभी किसी के! भारतीय जनजीवन पर विचारते हुए अक्सर मैंने स्वयं को अस्फुट विचारों में वेणुवन में राजकिशोर जी के साथ पाया है।

बेरोजगारी के प्रश्न पर, हिंदी के प्रश्न पर, दलित और स्त्री-प्रश्न पर, अल्पसंख्यक प्रश्न पर इतने सम्यक् और तल्लीन ढंग से सोचकर निदान की ओर पहल करते चले जाने वाले ऐसे सद्पुरुष कम ही हैं। ऐसे सद्पुरुष कम ही हैं जो संवाद में विश्वास रखते हैं और सामने वाले को भी सोचने और बोलने का पूरा स्पेस देते हैं। यही नहीं स्वयं आगे बढ़कर अलग-अलग वर्गों/वर्णों/सम्प्रदायों की स्त्रियों से लिखवाते भी हैं— ''आखिर स्त्री क्या चाहती है।'' पत्नी और बच्ची, बहू और पोती – सबसे बराबरी का यानी कि हँसता-बोलता, सहज प्रसन्न रिश्ता रखने वाले राजकिशोर-जैसे जनतांत्रिक पुरुष आपको कम ही मिलेंगे। ओशो, मार्क्स, फ्रॉयड, अम्बेडकर, गाँधी, लोहिया और सबसे गहनतम संवाद करती है, इनकी 'सुनन्दा की डायरी'। क्षीण प्रेमकथा का ढाकाई दुशाला ओढ़ाकर जीवन-जगत् के कई प्रश्नों पर दो ऐसे प्रेमियों का अंतरंग संवाद सम्भव किया है इन्होंने जिनका बिछड़ जाना तय ही है। 'उम्र भर एक मुलाकात चली जाती है' ऐसा सहज मंचन वैचारिक गद्य में घटित करना आसान नहीं था। वैचारिक निबन्धों को ललित निबन्धों का उदारचेता हास-विलास दे पाना इन-जैसे जनतांत्रिक व्यक्ति के लिए ही सम्भव था! पत्ती-पत्ती फूटते चले जाते हैं विचार। कल-कल-कल बहते चले जाते हैं। बोझिल पाँवों से नहीं चलते। इसलिए सीधा आत्मा में उतर आते है। हँसा-खेलाकर, तरह-तरह के बेधक प्रश्न पूछकर आत्म-मंथन को प्रेरित करने वाली यह प्रांजल भाषा हिंदी प्रदेश में चिंतकों/भाष्यकारों में ओशो के पास भी थी। कई प्रश्नों पर इनकी लम्बी बातचीत ओशो से हुई थी— 'रविवार' के बाद के दिनों में। बाद में शायद कोई मतभेद हो गया हो! अब वे आलेख उपलब्ध नहीं हैं जो उन्होंने ओशो के आश्रम से हिंदी की दुनिया को लिखे थे। बिटिया बताती है कि अपना बहुत कुछ उन्होंने जाने के पहले से डिलीट करना शुरू कर दिया था। यह भी एक बड़े सम्पादक के वश का ही कि वह स्वयं को भी सम्पादित और खारिज करे।

रेणु हमारे प्रिय लेखक थे और हमारा एक सपना साझा था— उन्नत, कम्यूननुमा जीवन का सपना। बेटे के बाद के कठिन वक्त में जब मैं घर गयी, उस समय तक घर में चूल्हा नहीं जला था। पड़ोसी ही खाना भेजते रहे थे। इसका जिक्र करते हुए मुझसे बोले— ''क्या ऐसा नहीं हो सकता कि एक फ्लोर पर रहने वाले कम-से-कम चार घरों का खाना हमेशा साथ बने। श्रम-साधन, ईंधन-सब कुछ बचेगा और लोग एक मेज पर खाते हुए जीवन-जगत् की समस्याओं पर अपना पक्ष तो रखेंगे ही, साझा निष्कर्ष कार्यान्वित करने की दिशा में पहल भी करेंगे?..... आपके उपन्यासों में विपदाओं से पूछती अकेली स्त्रियाँ वृद्धाश्रम और अनाथाश्रम का परिसर एक कर देने की बात करती हैं और बाद में बेरोजगारों, विस्थापितों, वृद्धों, अनाथों का एक संयुक्त परिवार-सा चलाती भी हैं— अपनी श्रम-शक्ति से। यह बात मुझको जँची। यह भी जँची कि बड़े स्तर पर बसाया कम्यून बिखर जाएगा। छोटे कम्यून बनें– पर उनका आपसी संवाद लगातार हो।''

और भी बहुत-कुछ कहना-सुनना था। अब यह कहना-सुनना उनकी पत्नी-बच्ची और किताबों से होगा और होता रहेगा। शंभुनाथ जी बताते हैं कि कक्षा पाँच से उन्होंने अपनी पढ़ायी का खर्चा खुद ही उठाया और तब भी अव्वल ही आते रहे। भाव का अभाव से गहरा नाता होता ही है न?

सस्नेह,

अनामिका

चंचल मुखर्जी, पाण्डेय हवेली, वाराणसी-221001 द्वारा प्रकाशित एवं दी महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित